समीक्षण धारा-२

परदे के उस पार

□

प्रवचनकार

आचार्य श्री नानेश

□

सम्पादक

मुनि ज्ञान

□

प्रकाशक

अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राजस्थान)

पुस्तक—परदे के उस पार

प्रवचनकार—आचार्य श्री नानेश

सम्पादक—मुनि ज्ञान

प्रथमावृत्ति—२२००

सम्वत्—२०४५

मूल्य : १५.०० रुपये

प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज०)

मुद्रक :
...ा प्रिण्टर्स, जयपुर

श्री

समता दर्शन प्रणेता

विद्वद् शिरोमणि जिनशासन प्रद्योतक

धर्मपाल-प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यान योगी

आचार्य परम्परा के ज्योतिर्मय

८१वें आचार्यदेव

पूज्य श्री १००० श्री नानालाल जी म० सा०

के २५वें आचार्यपद के उपलक्ष्य

में

प्रकाशकीय

हमारा संघ, सत्साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति करता जा रहा है। अब तक संघ ने विविध विधाओं में अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाशित किया है जो जन-जन के लिए रुचिप्रद बनता जा रहा है।

समता-विभूति, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, विद्वद्शिरोमणि, आचार्य श्री नानेश के अहमदाबाद वर्षावास में हुए प्रवचनों का प्रथम भाग 'समीक्षण धारा' के नाम से संघ ने पूर्व में प्रकाशित किया था। अब समीक्षण धारा का ही द्वितीय भाग **'परदे के उस पार'** के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। हर मानव का यह सहज आकर्षण होता है कि परदे के उस पार क्या है, वह अनावृत्त को नहीं आवृत्त को देखने का विशेष इच्छुक होता है, तो हमारा यह शरीर भी एक बहुत बड़ा आवरण है। इस शरीर के भीतर क्या है? इसे देखने-जानने के लिए हमें विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करनी होगी और साथ ही देखने के लिए समीक्षण दृष्टि पैदा करनी होगी। भीतरी अवलोकन बाहरी नेत्रों से नहीं किन्तु समीक्षण के नेत्रों से ही हो सकेगा। आचार्य प्रवर ने अहमदाबार वर्षावास के प्रवचनों में समीक्षण ध्यान को विविध रूपों में समझाने का अत्यन्त सराहनीय प्रयास किया है। 'समीक्षण धारा' प्रथम भाग में ध्यान के विषय को बतलाया गया था और इस द्वितीय भाग में भी समीक्षण ध्यान के मानव जीवन से सम्बद्ध अनेक पहलुओं को स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का सुन्दर सम्पादन भी आचार्य प्रवर के अन्तेवासी सुशिष्य विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनि जी म. सा. ने किया है।

हमारा संघ सत्साहित्य एवं जीवन विकासोन्मुखी संकृतियों के प्रकाशन के लिए कृत संकल्प है।

शांत क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. की स्मृति में श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार में अनेकानेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थों का संचयन कर उन्हें संघ की साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशन करती है।

इसी संकल्प की क्रियान्विति में इस कृति को भी गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर प्रकाशित करने में संघ हार्दिक आत्म संतुष्टि का अनुभव कर रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में हमारे प्रमुख सहयोगी हैं बोरदिया परिवार के श्री सूरजमलजी बोरदिया। स्थानकवासी जैन संघ, उदयपुर में बोरदिया परिवार अग्रगण्य परिवार में गिना जाता है। इस परिवार की धार्मिक श्रद्धा आदर्श है। धार्मिक प्रवृत्तियों में भाग लेना यह परिवार अपना कर्त्तव्य मानता हैं। पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज सा. की सम्प्रदाय में इस परिवार की अटूट श्रद्धा है। इस सम्प्रदाय में इनकी गणाना एक स्तम्भ के तौर पर की जाती है। उदयपुर में भोपालपुरा में इस परिवार की ओर से इनकी मातुश्री की प्रेरणा से एक स्थानक "जुहार जैन भवन" का निर्माण कराया गया है।

वर्तमान में यह परिवार अहमदावाद में अपना व्यवसाय चलाता है। कपड़े के व्यापारियों में इस परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा है।

श्रीमान् जुहारमलजी सा० बोरदिया के सुपुत्र श्री नयन चन्द्रजी, श्री चांदमलजी व श्री सूरजमलजी ये तीनों भाई अपनी-अपनी अलग-अलग पेढ़ियां चलाते हैं। तीनों ही परिवार की धार्मिक श्रद्धा में आज भी कोई अन्तर नहीं आया है। धार्मिक क्रियाओं में व्रत-प्रताख्यान-दान आदि में भी यह परिवार स्थिति के अनुसार पूरा-पूरा भाग लेता है।

भाइयों में श्री सूरजमलजी सबसे छोटे हैं, मगर दान आदि परोपकारी कार्यों में आप सदा आगे रहकर हिस्सा लेते हैं। आचार्यश्री नानेश के प्रति आपकी अनन्य श्रद्धा-भक्ति है। इस पुस्तक के प्रकाशन में आपका ही पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है। आपके चारों पुत्र श्री सुरेश चन्द्र, श्री प्रवीण चन्द्र, श्री दिनेश चन्द्र और श्री रमेश चन्द्र भी धार्मिक-श्रद्धा में ओत-प्रोत हैं।

आशा ही भरी पूर्ण विश्वास है कि यह परिवार व सभी भाई संघ हित की सभी प्रवृत्तियों में हार्दिक सहयोग प्रदान करते रहेंगे। आपके इस सहयोग के प्रति संघ आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन सम्बन्धी प्रबन्धन में डॉ० नरेन्द्र भानावत के सहयोग के लिए हार्दिक आभार।

गुमानमल चौरड़िया
संयोजक
श्री अ० भा० सा० जैन साहित्य समिति
बीकानेर (राजस्थान)

परदे के उस पार
(क्या है ?)

विश्व का जो रूप वर्तमान में परिलक्षित हो रहा है, उससे भी कई गुणा अधिक विश्व का महत्त्वपूर्ण रूप आज भी अदृश्य है, जिसे दृश्यभूत करने के लिये आज के वैज्ञानिक दिन-रात परिश्रम कर रहे हैं। परिणामस्वरूप नये-नये आविष्कार सामने आ रहे हैं, किन्तु यह कहना भी सर्वथा सत्य है कि वे इन भौतिक साधनों से कितने ही आविष्कार करलें, पर उनके आविष्कार समुद्र में बून्द तुल्य ही होंगे। क्योंकि यह दुनियाँ अचिन्त्य शक्तियों से भरी पड़ी है।

उन सब शक्तियों की खोज जिस रफ्तार से मानव इस यांत्रिकी युग में कर रहा है, अगर वह उसी रफ्तार से करता रहा तो एक जिन्दगी नहीं, ऐसी अनेक जिन्दगियां व्यतीत कर दे तो भी वह यंत्रों के माध्यम से उन अदृश्य शक्तियों को दृश्यमान नहीं बना सकता। यह भी सत्य है कि मानव का जितना अदृश्य तत्त्वों पर आकर्षण रहा हैं, उतना दृश्यमान तत्त्वों पर नहीं है। एक बच्चे को ही देख लीजिये- उसके सामने आप दो प्रकार के खिलौने ले जांय और उनमें से एक खुला हुआ और दूसरा डिब्बे में बन्द हो। बच्चे को आप वह खुला खिलौना दे दें और डिब्बा न खोलें, बच्चे को भी उसे खोलने के लिए इन्कार करदें तो फिर देखिये, कैसी स्थिति घटित होती हैं। वह बच्चा उस दिये हुए खिलौने से न खेलकर जो डिब्बे में बन्द खिलौना है, उसे पाने की कोशिश करेगा, जिद्द करेगा, रोएगा पर उसे पाकर ही वह शांत होगा।

यह बात उस बच्चे की ही नहीं, बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुषों की भी ऐसी ही वृत्ति देखने को मिलती है। किसी भी व्यक्ति को आप यह कह दें कि इधर झांकना मना है तो वह सबसे पहले उधर ही झांकने का प्रयास करेगा। जिसके परदा है, उस वस्तु को पहले देखने का प्रयास करेगा।

परदे के उस पार क्या है, इसे जानने एवं देखने के लिये मानव का आकर्षण अत्यधिक रहता है। अत्यन्त उत्सुकता के साथ वह जानने की कोशिश करता है। वर्तमान में जितने भी आविष्कार हमें देखने, पढ़ने एवं सुनने को मिल रहे हैं, उन

सबका आविष्कार किसी एक या दो वैज्ञानिकों का नहीं, अपितु हजारों वैज्ञानिकों के अत्यन्त परिश्रम का परिणाम है कि आधुनिकतम आविष्कार हमारे सामने आये हैं, आ रहे हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, लेकिन विचार यह करना है कि इन आविष्कारों की उपज कहाँ से होती है ? आखिर होती तो मानव के भीतर से ही है। यदि मानव की ज्ञानशक्ति काम न करे तो ये आविष्कार कभी नहीं हो सकते। अत: यह स्पष्ट है, इन सब दृश्यमान आविष्कारों की जननी मानव की भीतरी शक्ति ही है। तब क्यों न ऐसा सत्पुरुषार्थ किया जाय, जिससे भीतरी शक्ति के परिपूर्णत: अनावृत्त होने पर संसार की समस्त अदृश्य वस्तुएँ एकदम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगें। जैसा कि मैं बतला गया हूँ कि मानव का आकर्षण परदे के उस पार विद्यमान वस्तु पर अधिक होता है तो उन समस्त परदे के उस पार रही वस्तुओं को जानने एवं देखने के लिये उन सबकी जननी शक्ति को ही जानने एवं देखने का प्रयास किया जाय।

मानव की उस भीतरी शक्ति पर एक दो परदे नहीं अपितु अनेक तरह के परदे लगे हुए हैं। सबसे पहले तो हमें जो परदा शरीर का दृश्यमान हो रहा है, इस दृश्यमान शरीर के परदे के अन्दर अपेक्षा से सूक्ष्म रूप से विद्यमान तैजस् और कार्मण शरीर के परदे हैं। इन तीनों शरीरों को आज की भाषा में (लगभग) फिजिकल बोडी, एथरिकल बोडी और एस्टूल बोडी कहते हैं। इन तीन पर्दों में रही हुई मानव की चैतन्य शक्ति पर कर्मों के असंख्य परदे पड़े हैं। यद्यपि मूलत: तो कर्म आठ ही प्रकार के हैं, किन्तु उत्तरभेद से उनके 148/158 भेद भी किये जाते हैं। उन भेदों में से एक-एक कर्म प्रकृति के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश के बंध की अपेक्षा अध्यवसायों की दृष्टि से असंख्य भेद बन जाते हैं। ये असंख्य परदे हमारी भीतरी, परिपूर्णज्ञानादि शक्तियों को आवृत्त किये हुए हैं। उन शक्तियों को अनावृत करने के लिये इन परदों को हटाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

जब मानव का आकर्षण 'परदे के उस पार' क्या है ? उसमें रहा हुआ है तो हमें हमारे शरीर के परदे के उस पार क्या है इसे जानने एवं देखने का प्रयास करना चाहिये। यदि इसके प्रति हमारा आकर्षण, तीव्रता के साथ बढ़ा तो हमें तदनुसार ही पुरुषार्थ भी करना होगा।

इस भीतरी शक्ति को अनावृत्त करने के लिये बाहर के मंत्र कार्यकारी नहीं हो सकते। उसके लिये भीतर का ही यंत्र पैदा करना होगा। क्योंकि हीरे को देखने-परखने के लिये वैसा ही काच होना आवश्यक है।

हमारी भीतरी शक्ति पर पड़े परदों को हटाने के लिये ध्यान ही एक ऐसा यंत्र है, जिसके माध्यम से हम भीतर में प्रवेश कर सकते हैं। लेकिन समस्या आज हमारे सामने यह खड़ी हो गई है कि ध्यान भी एक नहीं, अनेक तरह के प्रचलित हो गए हैं। तब उनमें से कौनसा ध्यान अपनाया जाय ? वस्तुत: इस पर ध्याता का गम्भीरता से विचार अपेक्षित है।

समता विभूति, समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य श्री नानेश ने हमारे समक्ष आगमिक धरातल से 'समीक्षण ध्यान' की प्रक्रिया रखी है जिसके माध्यम से परदे के उस पार रही शक्ति को देखा जा सकता है। आवश्यकता है, अवधानता के साथ बोध पाकर उसे प्रायोगिक रूप देने का।

जीवन के व्यावहारिक पक्ष में ध्यान की भूमिका कैसी रहे, साथ ही भीतर में भी कैसे प्रवेश किया जाय, इसके लिये आचार्य प्रवर के अहमदाबाद वर्षावास में हुए प्रवचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। उन प्रवचनों में से कुछके प्रवचनों को मैंने पूर्व में 'समीक्षण धारा' भाग 1 के रूप में सम्पादित किया था। अब आगे के कुछेक प्रवचनों को 'परदे के उस पार' के नाम से समीक्षण धारा का यह दूसरा भाग सम्पादित किया है।

वस्तुत: ये प्रवचन जिज्ञासु के ज्ञान-नेत्र को खोलने वाले हैं, अन्त:चक्षु को उद्घाटित करने वाले हैं। यदि इसके अध्ययन के साथ समीक्षण ध्यान के माध्यम से भीतर में झांकने का प्रयास किया गया तो हमारे वे सारे के सारे परदे हटते चले जायेंगे और हमारी परदे के उस पार रहने वाली उस शक्ति की अभिव्यक्ति होगी कि जिसके बाद कोई भी दृश्य हमारे से अदृश्य नहीं रह जाएगा। सुख का अक्षय स्रोत फूट पड़ेगा, शांति के महकते उपवन में हमारी आत्मा, शाश्वत रूप से रमण करने लगेगी।

—मुनि ज्ञान

६–९–८५
मोटा उपाश्रय हींगवाला लेन
घाटकोपर, बम्बई

अनुक्रमणिका

आन्तरिक मल का विसर्जन हो

- ☐ एकान्त में समीक्षण का प्रयोग हो।
- ☐ मन का कचरा बाहर निकालें।
- ☐ मन का अशुद्ध संकल्प।
- ☐ दूषित विचारों का परिणाम।
- ☐ हिंसक भाव स्वयं के हिंसक।
- ☐ दूसरों की हानि के पहले स्वयं की हानि।
- ☐ समीक्षण सहायक सामायिक।

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ।।

दशवैकालिक सूत्र ३२/३६

एक आत्मा को जीत लेने पर पांच इन्द्रियां और चार कषाय भी जीत लिये जाते हैं। इन को जीत लेने पर सभी पर विजय प्राप्त हो जाती है।

मन से विकारों का विसर्जन भी आत्मिक शक्ति के द्वारा ही होता है। आत्मा जब अपने आपका समीक्षण करने लगती है, तब मन और इन्द्रियों की विकृति भी दूर होती चली जाती है।

आत्मिक शुद्धि के लिए अन्तरंग का मल क्या है और उसे कैसे दूर किया जाय ? समता और समीक्षण का रसपान कैसे किया जाय ? इस विषयक वर्णन प्रस्तुत प्रवचन में किया गया है।

आन्तरिक मल का विसर्जन हो

शान्ति जिन एक मुझ विनति, सुनो त्रिभुवन राय रे ।
शान्ति स्वरूप केमजणिये, कहो मन केम परखाय रे ।।

जड़ तत्त्वों से निर्मित शरीर के पवित्र स्वरूप को विकसित करने के लिए पवित्र महापुरुषों का स्मरण करना, उनके उपदेश को हृदयंगम करना आवश्यक है। स्मृति जितनी पवित्र बनेगी, उतना ही जीवन पवित्रता की ओर आगे बढ़ेगा। स्मृति को पवित्र बनाने के लिए महापुरुषों के जीवन संस्मरण के साथ ही वीतराग-वाणी पर चिन्तन-मनन करना भी आवश्यक है। वीतराग वाणी को श्रवण करने के लिए भाई-बहिन अपना अमूल्य समय निकालकर यहां उपस्थित होते हैं। लेकिन चिन्तन यह करना है कि जिन्हें हम कान से श्रवण कर रहे हैं, उनका मनन सही रूप में हो रहा है या नहीं। किसी भी वस्तु का जायका लेना है तो वह जिह्वा से लिया जाता है, किन्तु उसे शरीर में परिणत करने का काम जठराग्नि का होता है। मनुष्य बढ़िया से बढ़िया भोजन करे लेकिन उसकी जठराग्नि व्यवस्थित नहीं है, विकृत है, विषययुक्त तत्त्व से खराब हो गई है, तो उस शरीर में जाने वाला बढ़िया से बढ़िया अन्न भी विषयुक्त हो जाता है। सन्निपात रोग से ग्रस्त व्यक्ति अमृत तुल्य दूध पीकर भी उसे विष रूप में परिणत कर देता है।

जिस प्रकार शरीर की प्रक्रिया जठराग्नि के साथ है, वैसे ही जीवन निर्माण की प्रक्रिया मन के साथ है। जीवन निर्माण की जठराग्नि मन है। यदि मन रूपी जठराग्नि मन्द है, रोगग्रस्त है तो समीक्षण की औषधि का सेवन कर उसे स्वस्थ एवं तीव्र बनाना चाहिए। मन की पाचन क्रिया पर आई विकृति को समीक्षण रूपी औषध का सेवन करके दूर करना है। मन की जठराग्नि से ही जीवन का रस तैयार होगा। वर्तमान जीवन सुखी और समृद्धशाली तभी बन सकेगा, जब जीवन में वास्तविक रूप से तन्दुरुस्ती आएगी। इस तन्दुरुस्ती को लाने के पहले थोड़ा समीक्षण कर लें कि मन की जठराग्नि व्यवस्थित है या नहीं।

एकान्त में समीक्षण का प्रयोग हो

पानी में जब तक तरंगें उठती रहती हैं, तब तक उसके तल में कौन-सी मूल्यवान् वस्तु है, इसका अवलोकन नहीं किया जा सकता है। तरंगों के समाप्त

होने पर ही तलगत वस्तु का अवलोकन स्पष्ट रूप से हो पाता है। ठीक इसी प्रकार मन में भी अनगिनत विचारों की तरंगें उठ रही हैं। उन तरंगों की समाप्ति जब तक नहीं होगी, तब तक आत्म-शक्ति का अवलोकन नहीं किया जा सकता। मन की तरंगों को समाप्त करने के लिए एकान्त के क्षण आवश्यक हैं। एकान्त के क्षणों में मन के उभार को शान्त भी किया जा सकता है तो उसे बढ़ाया भी जा सकता है। मन को समतामय भी बनाया जा सकता है तो विषमता युक्त भी किया जा सकता है। लेकिन जब मन को एकान्त के क्षणों में समता के रंग से अनुरंजित कर आन्तरिक वृत्तियों का समीक्षण—देखने का प्रयास किया जाता है तो उन एकान्त के क्षणों में विषमता का उभार न होकर शमन होता चला जाता है।

आज के व्यक्ति को एकान्त स्थान बहुत कम मिल पाता है। वह अपने परिवार के बीच रहता है, वहां एकान्तता सम्भवित नहीं और यदि धर्मस्थान में भी आ जाय, तो वहां भी अनेक व्यक्तियों का समूह होता है। जंगल में भी चला जाय तो पक्षियों की चह-चहाहट गूंजती रहती है। वैसे आज के व्यक्तियों का जंगल जाना सम्भव भी कम है। फिर एकान्तता कहां से लाई जाय ? वस्तुतः एकान्तता से तात्पर्य बाहरी क्षेत्रफल की दृष्टि से जितनी एकान्तता आवश्यक नहीं है। उससे कई गुनी अधिक एकान्तता अन्तरंग के जीवन की आवश्यक है। अन्तरंग में जो राग-द्वेष से सम्बन्धित वृत्तियों का उभार आ रहा है, उस उभार से निवृत्त होने के लिए एकान्तता की आवश्यकता है।

मन का कचरा बाहर निकालें

किसी भी रोगी के रोग को दूर करने के लिए वैद्य सबसे पहले उसके पेट की सफाई की ओर ध्यान देता है क्योंकि जब तक गन्दगी साफ नहीं होगी, तब तक औषधपान से भी आरोग्यता की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। ठीक इसी प्रकार आन्तरिक जीवन को स्वच्छ, सुन्दर और निरोग बनाने के लिए उसमें भी रही हुई वासनाओं की गन्दगी को साफ करना होगा। जब तक मन की वृत्तियां, इन्द्रियों के माध्यम से वासनाओं में प्रवृत्ति करती रहेंगी और मन को मलिन बनाती रहेंगी, तब तक अन्तरंग जीवन दुःख-द्वन्द्वों में ही उलझता रहेगा। अतः शान्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि मन को मलिन बनाने वाली वासनाओं को हटाया जाय, मन को स्वच्छ, निर्मल बना लिया जाय। वासनाओं के उभार को हटाने एवं मन की

मलिनता को स्वच्छ करने के लिए समीक्षण धारा प्रवाहित करनी होगी। जिस धारा से तन-मन और वचन ही नहीं आत्मा भी सराबोर होकर पवित्र हो जाय। आत्मा के द्वारा मन में उठने वाले विचार ही वचन, काया में परिणत होते हैं। सबसे पहले आत्मा को जीतने के लिए शास्त्रकारों ने कहा है—"एगे जिए जिए पंच" अर्थात् एक को जीत लेने पर उससे सम्बन्धित पांच इन्द्रियां जीती जा सकती हैं। उसके साथ ही कषाय भी जीते जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में भी सुविशुद्ध होता हुआ आत्मस्थ हो जाता है।

मन का अशुद्ध संकल्प

अशुद्ध किंवा हिंसक संकल्प करने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसे संकल्प साधक के स्थान पर बाधक जरूर बन जाते हैं। समझने के लिए एक छोटा सा रूपक प्रस्तुत कर देता हूँ। एक पुरुष मन में दूषित वृत्ति को लेकर चल रहा था और सोच रहा था कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है। आज मैं जाऊँ और उस शत्रु को समाप्त कर दू। शत्रु को समाप्त करने के लिए उसके मन में पाप संस्कार जम गये। वे पाप संस्कार अब तक मन की सीमा तक ही थे। जैसे दूध को वर्तन में रखकर गरम करने की दृष्टि से चूल्हे पर रखा गया, जैसे-जैसे गरमी लगती है वैसे-वैसे दूध पकता हुआ चला जाता है। दूध पकने पर तो उसमें अंगुली डालने पर वह भी जल जाती है। जब दूध में उफान आने की स्थिति होती है तब वह वर्तन के मुंह से बाहर निकलने लगता है। आपने दूध गरम करने वाले व्यक्ति को देखा होगा। उसकी पहचान यह है कि जब भाप बाहर निकलती है तो वह समझ लेता है कि दूध पूरा पक गया—उफान आता है तो पानी के छींटे डालकर उफान को नीचे बैठा देता है। वही परिस्थिति आपके मन रूपी वर्तन की है। पाप, सबसे पहले आत्मा के द्वारा मन में पैदा होता है और जब भावना में तीव्रता आती है तो वह उसे वाणी से कहने लग जाता है, फिर वाणी तक ही सीमित नहीं रहता। इतना मन में पक्का विचार हो गया कि मुझे तो शत्रु को खत्म कर देना है, तब वह काया में परिणत हो जाता है। पाप का फल पाप करने से पहले भी मिल सकता है और पाप करने के बाद भविष्य में भी मिल सकता है और भविष्य में कुछ साल बाद या भवान्तर में भी मिल सकता है।

दुश्मन को खत्म करने की भावना तीव्र हुई और वह दुश्मन को मारने के लिये पहुँचता है। उस वक्त उस दुश्मन को भी सांकेतिक रूप से ज्ञात हो जाता है कि यह भाई मुझे मारने के लिए आ रहा है।

एक-दूसरे की भावना एक-दूसरे को ज्ञात हो सकती है, यदि व्यक्ति संवेदन-शील है तो यन्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। टेलिपेथी के अनुसार एक-दूसरे के भाव इतने द्रुतगति से जाते हैं कि उन भावों को रोक नहीं सकते। अतः किसी पर भी वुरे विचार करने से पहले वैचारिक सम्प्रेषण पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सूर्य की किरणों की गति का नाप वैज्ञानिकों ने लिया है। ये किरणें प्रति सैकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की दूरी पार करती हैं, लेकिन विचारों की गति, किरणों की गति से भी अधिक तीव्र या तेज है।

दूषित विचारों का परिणाम

अच्छे विचारों का प्रवाह भी वाहर जाता है तो वुरे विचारों का भी प्रवाह वाहर जाता है। कोई मनुष्य किसी पर घातक वार करने के लिये मन में पक्के विचार लेकर चलता है और जिसके लिये उसने वुरे विचार किए हैं, वह व्यक्ति 50 हजार मील की दूरी पर भी क्यों न हो, लेकिन जिस वक्त उस पुरुष ने उसके प्रति वुरे विचार मन में पैदा किये, उस समय दूरी का विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा—कुछ ही समय में उस सामने वाले व्यक्ति के मन में भी प्रतिक्रिया पैदा हो जायेगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिए आ रहा है। ऐसे कई उदाहरण आज मनोविज्ञान की दृष्टि से सामने आये हैं। शास्त्रकारों ने इसका वहुत विश्लेषण किया है, वहुत वारीकी से व्याख्या की है।

उस व्यक्ति ने मन में विचार कर लिया कि अमुक व्यक्ति को मुझे मारना है और वह व्यक्ति उसी समय उठ गया और मकान से वाहर निकला, मध्य रास्ते में चलने लगा।

दूसरे के मन में भी यह भावना जगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिये आ रहा है। वह भी मकान से वाहर निकला। जो उसको मारने के लिये आ रहा

था वह रास्ते में मिल गया, उस पर उसने ऐसा घातक वार किया कि वह छटपटाकर वहीं मर गया। भावों की तीव्रता से पाप को कार्य रूप में परिणत करने से पहले ही, उसको पाप की भावना मात्र करने का दण्ड मिल गया। यदि वह उस व्यक्ति को मार डालता तो सरकार उसको बाद में दण्ड देती या नहीं देती किन्तु उसको तो दण्ड मिल गया।

इस मन की वृत्तियों को पुरुष अपने एकान्त क्षणों में बैठकर देखे और विचार करे कि राग-द्वेष और मोह की दशा कैसे दूर हो सकती है?

हिंसक भाव स्वयं के हिंसक

कभी-कभी ऐसा प्रसंग आता है कि पाप करते-करते ही व्यक्ति उसका फल पा लेता है।

एक सिक्ख बस में बैठ रहा था। बैठते-बैठते उसको एक खरगोश नजर आया। उसको मारने के लिए उसने छुरा निकला। खरगोश पर छुरा फेंकने ही वाला था कि संयोग ऐमा हुआ कि छुरा हाथ से छूटकर उसके हाथ पर गिर गया। खरगोश को तो वह नहीं मार पाया लेकिन स्वयं को सबक मिल गया।

कभी पाप करने के तुरन्त बाद फल मिलता है तो कभी वर्षों बाद मिल सकता है और कभी-कभी अन्य भवों में मिलता है।

अभी वर्तमान में घटित घटना है—मेरठ जिले के दादरी गाँव में एक पहलवान रहता था। पहलवानी करने के बाद वह दूध पीता था। दुध भी पर्याप्त मात्रा में पीता था। वह एक दिन दूध खरीद करके लाया और बरतन में डाल कर गर्म करने के लिए उसे सिगड़ी पर चढ़ा दिया और सोचा कि कसरत करके दूध पी लूंगा। हण्डिया रखकर कसरत करने चला गया। वहां पर एक कुतिया थी, जो चुपके से आकर कुछ दूध पी गई। पहलवान को मालूम नहीं पड़ा। ऐसा ही कार्य-क्रम कुछ दिनों तक चलता रहा। उसने सोचा कि कोई मनुष्य तो वहां दिखता नहीं है, फिर दूध कौन पी जाता है?

दुश्मन को खत्म करने की भावना तीव्र हुई और वह दुश्मन को मारने के लिये पहुँचता है। उस वक्त उस दुश्मन को भी सांकेतिक रूप से ज्ञात हो जाता है कि यह भाई मुझे मारने के लिए आ रहा है।

एक-दूसरे की भावना एक-दूसरे को ज्ञात हो सकती है, यदि व्यक्ति संवेदनशील है तो यन्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। टेलिपेथी के अनुसार एक-दूसरे के भाव इतने द्रुतगति से जाते हैं कि उन भावों को रोक नहीं सकते। अतः किसी पर भी बुरे विचार करने से पहले वैचारिक सम्प्रेषण पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सूर्य की किरणों की गति का नाप वैज्ञानिकों ने लिया है। ये किरणें प्रति सैकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की दूरी पार करती हैं, लेकिन विचारों की गति, किरणों की गति से भी अधिक तीव्र या तेज है।

दूषित विचारों का परिणाम

अच्छे विचारों का प्रवाह भी बाहर जाता है तो बुरे विचारों का भी प्रवाह बाहर जाता है। कोई मनुष्य किसी पर घातक वार करने के लिये मन में पक्के विचार लेकर चलता है और जिसके लिये उसने बुरे विचार किए हैं, वह व्यक्ति 50 हजार मील की दूरी पर भी क्यों न हो, लेकिन जिस वक्त उस पुरुष ने उसके प्रति बुरे विचार मन में पैदा किये, उस समय दूरी का विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा—कुछ ही समय में उस सामने वाले व्यक्ति के मन में भी प्रतिक्रिया पैदा हो जायेगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिए आ रहा है। ऐसे कई उदाहरण आज मनोविज्ञान की दृष्टि से सामने आये हैं। शास्त्रकारों ने इसका बहुत विश्लेषण किया है, बहुत बारीकी से व्याख्या की है।

उस व्यक्ति ने मन में विचार कर लिया कि अमुक व्यक्ति को मुझे मारना है और वह व्यक्ति उसी समय उठ गया और मकान से बाहर निकला, मध्य रास्ते में चलने लगा।

दूसरे के मन में भी यह भावना जगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिये आ रहा है। वह भी मकान से बाहर निकला। जो उसको मारने के लिये आ रहा

था वह रास्ते में मिल गया, उस पर उसने ऐसा घातक वार किया कि वह छटपटाकर वहीं मर गया। भावों की तीव्रता से पाप को कार्य रूप में परिणत करने से पहले ही, उसको पाप की भावना मात्र करने का दण्ड मिल गया। यदि वह उस व्यक्ति को मार डालता तो सरकार उसको वाद में दण्ड देती या नहीं देती किन्तु उसको तो दण्ड मिल गया।

इस मन की वृत्तियों को पुरुष अपने एकान्त क्षणों में वैठकर देखे और विचार करे कि राग-द्वेष और मोह की दशा कैसे दूर हो सकती है ?

हिंसक भाव स्वयं के हिंसक

कभी-कभी ऐसा प्रसंग आता है कि पाप करते-करते ही व्यक्ति उसका फल पा लेता है।

एक सिक्ख वस में वैठ रहा था। वैठते-वैठते उसको एक खरगोश नजर आया। उसको मारने के लिए उसने छुरा निकला। खरगोश पर छुरा फेंकने ही वाला था कि संयोग ऐसा हुआ कि छुरा हाथ से छूटकर उसके हाथ पर गिर गया। खरगोश को तो वह नहीं मार पाया लेकिन स्वयं को सवक मिल गया।

कभी पाप करने के तुरन्त वाद फल मिलता है तो कभी वर्षों वाद मिल सकता है और कभी-कभी अन्य भवों में मिलता है।

अभी वर्तमान में घटित घटना है—मेरठ जिले के दादरी गाँव में एक पहलवान रहता था। पहलवानी करने के वाद वह दूध पीता था। दुध भी पर्याप्त मात्रा में पीता था। वह एक दिन दूध खरीद करके लाया और वरतन में डाल कर गर्म करने के लिए उसे सिगड़ी पर चढ़ा दिया और सोचा कि कसरत करके दूध पी लूंगा। हण्डिया रखकर कसरत करने चला गया। वहां पर एक कुतिया थी, जो चुपके से आकर कुछ दूध पी गई। पहलवान को मालूम नहीं पड़ा। ऐसा ही कार्य-क्रम कुछ दिनों तक चलता रहा। उसने सोचा कि कोई मनुण्य तो वहां दिखता नहीं है, फिर दूध कौन पी जाता है ?

एक दिन उसने कुश्ती को गौण किया और हण्डिया रखकर कोने में छिप कर बैठ गया। कुतिया को रोजाना का अभ्यास था, उसने दूध पीना चालू किया। पहलवान चट से निकल कर बाहर आया और कमरे में कुतिया को बन्द कर दिया। कुतिया ने इतने दिनों में कितना दूध पीया होगा ? अधिक से अधिक एक किलो। पर उस पहलवान ने लौहे की सलाका तपाई और कुतिया की आंख में डालकर उसकी आंखें फोड़ दीं। मनुष्य, मनुष्य तन का दुरुपयोग कैसे करता है और कैसे मन को मलीन बनाता है ? वह इस घटनाक्रम से स्पष्ट हो जाता है। कुतिया तत्क्षण तो नहीं मरी लेकिन उसको इतनी वेदना हुई कि थोड़े समय बाद वह समाप्त हो गई। पहलवान ने खुशी मना ली कि मैंने दूध का बदला ले लिया।

कुदरत में देर है लेकिन अन्धेर नहीं। सरकार देख लेती तो कुतिया को मारने का दंड दिया जाता या नहीं ? मालूम नहीं, ऐसा प्रावधान कानून में है भी या नहीं ? लेकिन कुदरत की रचना में देर है, अन्धेर नहीं। इससे उस पहलवान का इतना कर्मबन्धन हुआ कि वे कर्म बन्धन सप्ताह भर में उदय में आ गये। उस भाई की आंखों में इतनी शूल चलने लगी, इतनी जलन होने लगी कि सहन करना कठिन हो गया। पहलवान की दोनों आंखों में वेदना इतनी तीव्र हुई कि वह कुछ ही समय बाद समाप्त हो गया। यह भविष्य के फल की बात हुई।

दूसरों की हानि के पहले स्वयं की हानि

जिसके मन में पवित्रता होती है वह मन के संस्कारों को ठीक करता रहता है। यदि व्यक्ति को अच्छा निमित्त मिलता है और उसे कोई मारने की कोशिश करता है, तो उसे नहीं मार सकता और उसका दंड मारने वाला पहले ही पा लेता है।

ऐसी ही एक घटना मेरठ के पास पांचली गांव में बनी। दो किसान पांच मील की दूरी से चलकर बैल खरीदने के लिये पहुँचे। बैलों की जोड़ी १२०० रुपयों में तय कर ली। सौदा तय करते-करते घण्टा भर रात्रि व्यतीत हो गई। दोनों व्यक्तियों ने आपस में विचार किया कि अपन दो हजार रुपये लेकर आये हैं, १२०० रुपये बैलों की जोड़ी के देने हैं। बैलों की जोड़ी और बाकी रुपये लेकर जंगल के रास्ते से जाना है, घण्टा भर रात्रि हो गई है, रात्रि में जाने में खतरा है, इसलिये

आज की रात्रि यहीं रह जावें और प्रातःकाल चले जायेंगे। जिससे बैल खरीदे थे, उस व्यक्ति से कहा कि आज रात्रि में हम यहीं पर रह जाते हैं, कल प्रातःकाल चले जायेंगे। उसने चुपके से सुन लिया था कि इनके पास दो हजार रुपये हैं। उसने कहा कि ठीक है, आज रात्रि में यहीं पर रह जाओ। उनके लिये इन्तजाम कर दिया। बाहर की पड़साल में दो खाट डलवा दिये, बिस्तर बिछा दिये. दोनों को सुला दिया।

कृषक भी दो भाई थे। बैलों के खरीददार तो निद्रा के अधीन हो गये। इधर उन दोनों भाइयों के मन में पाप की वासना जगी। उन्होंने सोचा कि प्रातःकाल होते-होते ये बैलों की जोड़ी ले जायेंगे। १२०० रुपये में सौदा हुआ है, १२०० रुपये अपने को मिल जायेंगे। पर इनके पास में दो हजार रुपये हैं—अपना मकान गांव के किनारे पर है, अपना भी खेत पास में है, बस्ती नजदीक में नहीं है। रात्रि में कौन देखने वाला है ? इनको रात्रि में समाप्त कर दिया जाय तो, दो हजार रुपये अपने को मिल जायेंगे और बैलों की जोड़ी भी पास में रह जायगी। उन्होंने षड़यन्त्र रच लिया। दोनों ने अपनी पत्नियों से कहा कि तुम तैयार रहना, बाहर के यात्री आये हैं, हम जब इशारा करें तब छुरा उनकी गर्दन के पार कर देना। हम गन्ने के खेत में गड्ढा खोदने जा रहे हैं, उनको उस गड्डे में डालकर ऊपर से रेत डाल देंगे, किसी को पता नहीं चलेगा। पहले हम गड्डा तैयार कर लें, तुम छुरा लेकर तैयार रहना, इशारा करें उस समय गर्दन में छुरा भोंक देना।

कहते हैं—जैसे को तैसा मिल जाता है। उनकी पत्नियाँ भी वैसी ही थीं। उन्होंने कह दिया कि हम तैयार रहेंगी, आप गड्डा खोद लीजिये। दोनों भाई खेत में गड्डा खोदने चले गये। उन्होंने सोचा कि इस समय यहां पर कौन आ सकता है। गड्डा खोद रहे थे और उसी तरह की बातें कर रहे थे।

संयोगवश एक भाई उधर से जा रहा था। उसके कान में उन भाइयों की बातों की भनक पड़ी। कान में शब्द गये तो उसने सोचा कि कोई खतरा है। ये किसी का धन हड़पना चाहते हैं। उसने अनुमान कर लिया कि बाहर के मुसाफिरों को मारने का षड़यन्त्र दिखता है। वह भाई घूमकर उन दोनों व्यक्तियों के पास पहुँचा और उनको जगाकर कहा कि जल्दी मेरे साथ चलो। तुम्हारा जीवन खतरे में है। वे दोनों उठकर तैयार हो गए और उसके साथ चल दिये।

उधर युवा वय के दो पुरुष उस घर में और आये। वे उसी घर से सम्बन्धित थे। उन्होंने देखा कि आज नाटक देखने में ज्यादा समय लग गया, लेकिन सोने के लिये सीधे खाट मिल गये, चलो सो जाओ। दोनों मुंह पर कपड़ा ओढ़कर आनन्द से सो गये। जगेरा था, सोते ही उनको नींद आ गई।

रात्रि में १२ बजे के लगभग गड्ढा खोदकर दोनों भाई आये और पत्नियों को इशारा कर दिया। दोनों स्त्रियाँ छुरा लेकर निकलीं और दोनों पुरुषों के ऊपर से कपड़ा उठाये बिना ही दोनों की गर्दन के पार छुरा भोंक दिया और दोनों को खत्म कर दिया। खत्म करने के बाद स्त्रियों ने कमीज की जेब टटोली तो जेब में २ हजार रुपयों के बजाय बारह आने ही निकले—वे नाटक देखकर आये थे, इतने ही पैसे बचे थे। लेकिन स्त्रियों ने सोचा कि रुपये दूसरे ठिकाने रखे होंगे, बाद में देख लेंगे, कहाँ जाते हैं? उष दोनों कृषकों ने पत्नियों की सहायता से दोनों मृतकों की लाशों को गड्ढे में डालकर मिट्टी डाल दी और खुशी मनाने लगे। दोनों रात्रि में सो गये। पत्नियों भी सो गई।

कितना ही एकान्त में पाप किया जाय, दुनिया जाने या नहीं जाने लेकिन उनका मन जानता है, मन उनको चैन नहीं लेने देता। चारों को रात्रि में नींद नहीं आई।

सूर्योदय होने के बाद दोनों भाई कुए पर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि बैल खरीदने वाले दोनों व्यक्ति कुए पर मुंह-हाथ धो रहे हैं। उन्होंने सोचा कि यह क्या धोखा हो गया। वे लौटे और जाकर लाशें देखने लगे। तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उन दोनों के जवान लड़के मारे गये हैं। जब पुलिस को पता चला तो सारे परिवार को गिरफ्तार करके ले गई।

देखिये तो सही अज्ञान परिपूर्ण जीवन की कैसी दुर्दशा? उनको पता ही नहीं है कि हमारा जीवन कैसा है, जीवन को सुन्दर बनाने का कैसा कार्यक्रम है? कौनसा विधि विधान है? वीतराग देव के अनुयायी पुण्यशाली हैं। ऐसा आध्यात्मिक उपदेश श्रवण करने को मिल रहा हैं। आप जीवन की पवित्रता साधने के लिये, जीवन को तन्दुरुस्त बनाने के लिये अपनी मनरूपी जठराग्नि को देखिये कि इसमें ऐसे पापवासना का मल तो संचित नहीं है? यदि मल का संचय है तो पहले उसको मन से बाहर निकालिये और बाहर निकालने के लिये सभी के प्रति समीक्षण दृष्टि

बनाइये। जब विचारों में समभाव आएगा, तब उच्चारण और आचरण में भी समभाव पनपेगा। समभाव का विकास ही सच्चा आत्मविकास होगा।

समीक्षण सहायक सामायिक

समता की साधना के लिए सामायिक एक महत्वपूर्ण अंग है। सामायिक की साधना आनन–फानन में आने वाले खिलौने की तरह नहीं है बल्कि एक महत्त्वपूर्ण साधना है। इसको खयाल में रखिये। आप भाई-बहिन यह चिन्तन कर लें कि ४८ मिनट के लिये मुंहपत्ति और बैठका लगाकर सावद्य योगों का त्याग कर लेंगे, माला फेर लेंगे, भक्तामर का पाठ कर लेंगे, इतने में ४८ मिनिट पूरे हो गये और सामायिक हो गई। उठकर चले गए, लेकिन यह चिन्तन नहीं किया कि ४८ मिनिट के लिये संसार का त्याग किया, दो करण, तीन योग से १८ पापों का त्याग किया, राग-द्वेष आने के कारणों को हटा दिया। यह तो जुलाब लेकर कोठरी में प्रवेश करके मल का विसर्जन करना हुआ। भक्तामर का नाम लेना अच्छा है लेकिन खयाल करिये कि भक्तामर के श्लोकों का अर्थ जिसने जाना है उनके ध्यान में यह आ जायगा कि ऐसे भगवान् हो गये, यह बात आपके मस्तिष्क में आ जायगी। माला फेरेंगे तो माला के मणके हाथ से चलाते रहेंगे, जिह्वा चलती रहेगी, मन भी चलता रहेगा। उसके इंजीनियर ने बटन दवा दिया तो वह घूम रहा है। जबान चलने लगी, नवकार मंत्र का उच्चारण शुद्ध है या अशुद्ध है? मन चारों तरफ घूम रहा है। इस समय भी वह समीक्षण का कार्य नहीं कर रहा है। कदाचित् अच्छी धार्मिक पुस्तक आपके पास आ गई तो पढ़ने लगे। आपका मन उसमें लग गया, श्रुत ज्ञान की उपलब्धि हो रही है। नये-नये विषय आ रहे हैं किन्तु तात्विक विषय समझ में नहीं आयेगा। परन्तु रुचि हो गई तो आपका मन उसमें लग जायगा। मन लगना ठीक है, लेकिन कब लगाना? जिस उद्देश्य से एकान्त कमरे में गये हैं, पहले वह काम करना या यह काम करना? मैं इसको और स्पष्ट कर दूं। एक व्यक्ति ने पेट का मल साफ करने के लिये मल त्याग कर घर में प्रवेश कर लिया। दस्त देर से लगती है, वहां बैठा-बैठा पुस्तक पढ़ रहा है। ध्यान करिये मनोविज्ञान की दृष्टि से—कि मन पुस्तक में लग जाता है, तो दस्त का ध्यान नहीं रहता है। दस्त की तरफ ध्यान देते हैं तो मल बरबस चला आता है।

मन को पाप रूपी मल से खाली करना है। उसके पश्चात् समता समीक्षण रूपी औषधि की मात्रा लेनी है। सामायिक के कार्यक्रम में आपका मन डोलता रह गया, भक्तामर में रह गया तो पुण्यवानी तो बंधेगी लेकिन जिस उद्देश्य से सामायिक की साधना में बैठे हैं, वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

सबसे पहले मन के भीतर रहने वाले पापरूपी मल को विसर्जित करना है तो सामायिक में बैठकर विसर्जित करिये - फिर पवित्र संस्कारों को भरिये। ये पवित्र संस्कार भरेंगे कब ? जब समता-समीक्षण के सिद्धान्त में रम जायेंगे और तब आपको रस आये बिना नहीं रहेगा।

जीवन का अक्षय निधान

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र २०/३६

आत्मा ही काम-दुधा धेनु है, आत्मा ही नन्दन वन है ।

परम सुख एवं परम शान्ति की प्राप्ति भौतिक तत्त्वों से कभी भी नहीं हो सकती । अक्षय सुख का अक्षय खजाना बाहर नहीं अपितु भीतर में, जीवन की अनन्त गहराइयों में विद्यमान है । उसे पाने के लिए निज का ज्ञान करना होगा और निज के ज्ञान के लिए अन्तर समीक्षण करना होगा । जो एक बार भीतर का खजाना प्राप्त कर लेता है, उसे फिर कभी भी हानि नहीं होती ।

प्रस्तुत प्रवचन में भौतिक निधि को दुःख एवं अभौतिक निधि को सुख का परवान बतलाकर अतीव सुन्दर समझाइस की गई है ।

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं,
भंग न पड़शे हो प्रीत ।।
परम निधान प्रगटे मुख आगले
जगत् उल्लंघी हो जाय ।। जिने० ।।

चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में सर्वोत्तम मानव जीवन देवों के लिए भी दुर्लभ है। मानव के लिए देवलोक में देव बन जाना जितना कठिन नहीं है, उससे कई गुणा कठिन, मानव से पुनः मानव जीवन प्राप्त करना है। यह एक आपेक्षिक दृष्टिकोण है। एक बार मानव जीवन प्राप्त कर लिया जाय तो आर्य कुल और सुश्रद्धा मिलना और भी कठिन है। आज आप देखिये, मानव के शरीर को लेकर चलने वाले मानव तो करोड़ों, अरबों की संख्या में दुनिया भर में विद्यमान हैं, लेकिन उनमें आर्यत्व की स्थिति परिलक्षित नहींवत् होती है।

आर्य जीवन की दुर्लभता

अरबों की जनसंख्या में प्रभु द्वारा प्रवचित आर्य संस्कृति को लेकर चलने वाले मानव तो नगण्य ही मिलेंगे। सर्वत्र हिंसा, झूठ, चोरी, अश्लील आचरण एवं धन-दौलत, वैभव विलास का ही बोलबाला नजर आता है। मांस-मदिरा का व्यापक प्रचार हो रहा है। जहां विदेशी में तो प्रायः लोग इनका सेवन करने लगे हैं, वहां भारत में बहुत से लोग इन चीजों से अछूते नहीं हैं। अण्डे जैसी मांसाहारी वस्तु को भी शाकाहारी रूप में प्रचारित कर उसका सेवन किया जा रहा है। स्वयं के तुच्छ स्वार्थ के पीछे एक-दूसरे की हिंसा कर देना, लूट लेना आज के युग में एक साधारण सी बात हो गई है। ऐसी स्थिति में आर्यत्व की स्थिति मिलना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है। इसीलिए महाप्रभु ने यह स्पष्ट कहा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्भि य वीरियं ।।

पुण्यानुबन्ध पुण्यः साधना में सहायक

प्रथम तो आर्य कुल मिलना ही अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् आर्य कुल मिल भी जाय तो सर्वांग परिपूर्णता, वीतराग धर्म का श्रवण, उस पर अगाध श्रद्धा और

तदनुसार क्रियान्वयन एक के बाद एक दुर्लभता से प्राप्त होते हैं। इसके लिए अनन्त पुण्यवानी का अर्जन होना आवश्यक होता है। मैं समझता हूँ आप लोग अत्यन्त पुण्यशाली हैं। इसलिए मानव जीवन, आर्य कुल और धर्म का श्रवण करने को मिल रहा है। किन्तु इस पर श्रद्धा और पराक्रम कौन कितना कर रहा है ? इसके लिए तो अपने-अपने घर में विचार करने पर ही ज्ञात हो सकेगा। पुण्य का अर्जन तो फिर भी हो सकता है किन्तु पुण्यानुबंधी पुण्य का अर्जन अत्यन्त कठिन है। जो पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्धन करके भवान्तर में गमन करता है, वह जीव आने वाले भव में धन ऐश्वर्य की प्राप्ति के बाद भी अध्यात्म-साधना के महापथ पर बढ़ जाता है।

धर्म : आत्मा का निजी स्वरूप

धर्म मनुष्य का जीवन ही नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर रहने वाली आत्मा का निज स्वरूप है। जब तक आत्मा शरीर में है, तब तक वह शरीर का धर्म बना हुआ है। शरीर धर्म की स्थिरता शरीर में रहने वाली आत्मा से सुस्थिर है। जीवन भी तभी कहलाता है, जब आत्मा शरीर में विद्यमान हो। जब शरीर में से आत्मा निकल जाती है, तब कोई भी व्यक्ति, केवल पिण्डात्मक शरीर को जीवन नहीं कहता। बल्कि लोग इस शरीर को मुर्दा कहकर इसे जलाने या दफनाने की चेष्टा करते हैं अतः धर्म का आधार स्वयं की आत्मा है और आत्मा का मौलिक गुण धर्म है। दोनों में गुण-गुणी भाव से सम्बन्ध रहा हुआ है। जब आत्मा के गुण-धर्म का परिपूर्ण विकास होता है तब आत्मा अमन-शान्ति की अनुभूति करने लगती है। इस अमन-शान्ति की अनुभूति भी तभी होती है, जब वह अपने निज स्वरूप का ज्ञान कर पाती है। अपने आपको समझे बिना स्व-सत्ता का विकास नहीं हो सकता। विषय को सुबोधगम्य बनाने के लिए एक रूपक सुना देता हूँ।

अक्षय निधि स्वयं की

कोई दस-बारह वर्ष का बच्चा, घर-घर में भीख मांगता हुआ इधर-उधर घूम रहा था। सामने एक सामुद्रिक लक्षणों का ज्ञाता विद्वान् आ रहा था। उसने जब इस बच्चे को देखा और साथ ही उसके चेहरे पर उभर रहे लक्षणों पर उसकी दृष्टि पड़ी तो वह विस्मय में पड़ गया। विचार करने लगा— अहो ! इसके शरीर

के लक्षण तो यह बतला रहे हैं कि यह करोड़ों का मालिक है, किन्तु प्रत्यक्ष में तो यह भीख मांग रहा है। क्या सामुद्रिक शास्त्र गलत है? नहीं....नहीं। ऐसा तो कभी नहीं हो सकता। आज तक जितने भी लक्षण मैंने देखें हैं, वे सही निकले हैं। फिर यह क्या रहस्य है? विद्वान ने बच्चे को अपने पास बुलाया और उससे कहा कि तेरे चेहरे को देखते हुए ऐसा लगता है कि तुम करोड़ों के मालिक हो, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि तुम भीख मांग रहे हो। यह कैसे, क्या बात है? बच्चे ने कहा—विद्वान् महाशय! आप मुझ बच्चें की क्यों मजाक उड़ाते हैं। करोड़ों रुपयों की तो बात जाने दीजिये, मेरे पास दो जून खाने के लिए भोजन भी नहीं है। विद्वान महाशय ने कहा—नहीं बच्चे, मैं तुम्हारी मजाक नहीं उड़ा रहा हूँ, बल्कि सत्य कह रहा हूँ। तब बच्चा कुछ गम्भीर होकर बोला—आपका कहना आज नहीं, तब सत्य था, जब मेरे माता-पिता थे। उस समय मेरे पिता के पास करोड़ों की सम्पत्ति थी लेकिन पिता के अचानक स्वर्गस्थ हो जाने से व्यापारिक सम्पत्ति मुनिमों आदि ने दबा ली, घर खर्च के लिए माता ने घर में रही हुई सम्पत्ति भी खर्च दी। कुछ ही समय बाद माता का स्वर्गवास भी हो गया। कर्जदारों ने मकान बेचकर अपना-अपना कर्ज अदा कर लिया और मुझे घर से बाहर निकाल दिया। तब से मैं घर-घर जाकर भीख मांगकर पेट भरता हूँ। अब इस समय तो मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है।

विद्वान् महाशय ने सोचा—यह नहीं हो सकता। इसके पास अभी भी कम से कम एक करोड़ की सम्पत्ति है। लेकिन है कहां? उन्होंने ध्यान से उसके शरीर का निरीक्षण करना प्रारम्भ किया तो उन्हें उसके गले में बंधा हुआ एक डोरा दिखलाई दिया। डोरा देखकर वे बोले—बच्चे जरा यह डोरा हमें दिखलाओ।

तब बच्चा बोलता है—नहीं, नहीं, यह तो मैं नहीं खोल सकता। क्योंकि मेरे पिता ने बचपन में ही मेरे गले में बांध दिया था और कहा था कि इसे कभी भी मत खोलना, तभी से यह मेरे गले में है।

विद्वान् महाशय विचार करने लगे कि गले में यह डोरा तो तन्त्र से सम्बन्धित लगता है और इसके नीचे मादलिया भी लटका हुआ हैं। किन्तु इसके पिता ने यह कैसे बांधा? अगर बांधता तो कोई तन्त्र-ज्ञाता ही बांधता। जरूर इसमें कोई रहस्य होना चाहिए।

विद्वान् महाशय बच्चे को अपने विश्वास में लेकर वह डोरा उसके गले में से निकाल कर उसे इधर-उधर देखने लगे। फिर जो मादलिया था उसे खोलने लगे। उस पर कपड़े के पर्त लगे हुए थे, एक के बाद एक पर्त उखाड़ते-उखाड़ते चार पर्त खोलने के बाद लोहे की डिबिया निकली, उसे खोलने पर क्रमशः पीतल, चांदी और सोने की डिबिया निकली। जब सोने की डिबिया को खोला तो उसमें जगमग-जगमग करता हीरा चमक उठा। वह हीरा सवा करोड़ रुपये की कीमत का था। जिसे देखते ही सामुद्रिक शास्त्री जी पुलकित हो उठे। अरे वाह! वास्तव में यह बच्चा करोड़पति है, मेरे सामुद्रिक शास्त्र ने सब कुछ सच-सच बतला दिया।

विद्वान् महाशय ने उस बच्चे को वह हीरा देते हुए कहा कि लो, यह सवा करोड़ का हीरा। मैंने तुम्हें कहा था कि मेरा सामुद्रिक शास्त्र कहता है कि तुम करोड़पति हो। देख लो तुम्हारे पास सवा करोड़ का हीरा है।

विद्वान् महाशय की बात सुनकर बच्चा पुलकित हो गया। उसने बहुत-बहुत उपकार माना और इन्हीं की सहायता से पुनः अपना मकान खरीद लिया। पढ़-लिखकर व्यापार प्रारम्भ किया तो पुनः करोड़ों का मालिक बन गया।

निज का बोध : अनन्त सुख प्रदायक

बन्धुओ! यह तो एक रूपक है। जो यह संकेत देता है कि जब तक उस बच्चे को खुद की सम्पत्ति का ज्ञान नहीं था, तब तक वह भिखारी बना रहा किन्तु जब उसे अपनी सम्पत्ति का ज्ञान हो गया तो वह करोड़ों का मालिक बन बैठा। वैसे ही जब आत्मा का ज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा भी इस संसार में भिखारी की तरह इधर से उधर भटकती रहती है। जब आत्मा को अपने निज स्वरूप का भान होता है और वह उसे पाने के लिए प्रयत्नशील बनती है तो उस आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है। वह शाश्वत सुख का मालिक बन जाती है। करोड़पति तो एक दिन फिर कंगाल बन सकता है, किन्तु जो आत्मा, एक बार घनघातिक कर्मों का सर्वथा क्षय कर डालती है, वह फिर संसार के प्रपंचों में नहीं उलझती।

भौतिक निधान : दुःख का परवान

दुनिया के लोग भौतिक धन को निधान समझते हैं। जहां कहीं जमीन में धन गड़ा हुआ हो तो वे उसे पाने की कामना करते हैं। इसी प्रकार की कामना करते हुए लोग बाहरी धन की खोज करते रहते हैं ओर सोचते हैं कि मैं उससे परम शान्ति और परम सुख का अनुभव करूंगा। किन्तु ज्ञानी जन यह कहते हैं कि वह तो काल्पनिक सुख है, स्वप्निल सुख है। जब तक व्यक्ति स्वप्न देखता है तब तक सुख की अनुभूति होती रहती है, किन्तु ज्यों ही स्वप्न पूर्ण होता है तो वह पुनः स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है।

एक-एक दाने के मुहताज भिखारी को स्वप्न में राजसी ठाठ-बाट मिल जाते हैं, वह उसमें खूब सुख की अनुभूति करता है, किन्तु ज्योंही निद्रा भंग होती है, त्योंही मिट्टी के महल की तरह उसका सुख छिन्न-भिन्न हो जाता है। भौतिक धन में वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं हो सकती। सच्ची निधि वह होती है, जिसके उपलब्ध होने पर उसका स्वामी कभी निर्धन न हो सच्चा सुख वह है, जिसे पाने के बाद वह कभी भी दुःखी न हो। ऐसी निधि आत्मा की निजी समृद्धि के रूप में वह शक्ति है, जिसको आप दूसरे शब्दों में धर्म कह सकते हैं। वह निधि सभी मानवों के सामने है, परन्तु मनुष्य उसकी ओर ध्यान नहीं दे पा रहा है। एक अन्धे व्यक्ति की तरह उसे छोड़कर आगे बढ़ता जा रहा है।

जो व्यक्ति विवेकशील नहीं होता, उस व्यक्ति के सामने क्यों न संसार भर की ऋद्धि भी पड़ी रहे, परन्तु वह उसे भी छोड़कर निकल जाता है। वह उसे नहीं पाएगा, क्योंकि उसे विवेक नहीं है। ऐसा व्यक्ति चिन्तामणि रत्न को भी ठोकर मारकर निकल जाएगा, क्योंकि वह उसे नहीं जानता है। ऐसे व्यक्तियों के आंखें होते हुए भी ज्ञानीजन उन्हें अन्धे की उपमा देते हैं। कवि ने कुछ ऐसा ही संकेत दिया है—

परम निधान प्रगटे मुख आगले

कविता की भाषा उन्नीसवीं शताब्दी की है। उसमें स्पष्ट बतलाया है कि— परम निधान, श्रेष्ठ निधान, श्रेष्ठ खजाना सामने है, प्रकट है, परन्तु जगत् उसको

लांघकर चल रहा है। जगत् का ध्यान उस परम निधान की ओर नहीं है, वह नाशवान निधान की ओर दौड़ रहा है।

मूल को समझो और उसे सींचो

फल पाने की इच्छा से कोई वृक्ष को ही काट रहा है, वह यह नहीं सोच पा रहा है कि यदि वृक्ष कट गया तो फल कहां से मिलेंगे ? जो ऊपर फल दिख रहे हैं, पत्ते दिख रहे हैं, हरियाली दिख रही है, वह इसी वृक्ष से आ रही है। मूल खजाना उसकी जड़ में है, जो जमीन में गड़ी हुई है। जमीन के हिस्से की उपेक्षा करके वह ऊपर फल-फूल-पत्तों को लेने का प्रयास कर रहा है। ऐसा व्यक्ति उन्हें पा नहीं सकता। फलादि को चाहने वाला व्यक्ति वृक्ष के मूल की उपेक्षा नहीं कर सकता।

ज्ञानीजनों ने इस रूपक को संसारी लोगों के साथ उपमित किया है। मनुष्य जीवन की हरियाली जो हमें दिख रही है, किन्तु आप सोचिए कि यह हरियाली तो बाहर में दिख रही है। तो बन्धुओ! जिस प्रकार वनस्पति की हरियाली हरी-भरी और मनोरम दिखलाई देती है, उसी प्रकार मानव जीवन की बाहरी हरियाली है—बोलना, चलना, हंसना आदि। यह सब हरियाली मनुष्य की बाहरी पहिचान है। किन्तु यह पहिचान है किसके आधार पर ? क्या इसका आधार शरीर है ? हंसना, बोलना, अच्छी बातें करना, अच्छा व्यवहार करना या उल्टा व्यवहार करना ये इस शरीर के कार्य नहीं हैं, शरीर तो बेचारा अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है। परन्तु इस शरीर में रहने वाली जो आत्मा है, उस आत्मा की ही ये सारी प्रक्रियाएं हैं। आत्मा जब यह समझती है कि यह अच्छा है, तो वह अपनी अच्छाई प्रकट करने के लिए मुंह को आज्ञा देती है कि तुम खुश हो जाओ तो वह खुश हो जाता है। यदि उसे कोई कार्य अच्छा प्रतीत नहीं होता है तो क्यों न वह मुख से न बोले, किन्तु यह बात उसके चेहरे को उदास बना देती है। कुछ और व्यावहारिक बात बतला दूं—जब आपकी आत्मा को लगता है कि महाराज़ साहब के व्याख्यान सुनने के लिए जाना है तो उसी वक्त पैरों को आर्डर दिया नहीं कि वे चलने लगते हैं। बाजार में चाहे कितना ही ट्रैफिक हो, किन्तु उन सबके बीच में भी शरीर को बचाती हुई आत्मा शरीर को लेकर सुरक्षित रूप से धर्म-स्थान पर पहुँच जाती है। कार चलाने वाला ड्राइवर सैकड़ों-हजारों मील की यात्रा

करके भी कार को अखण्डित रख लेता है। ड्राइवर को भी यह ज्ञान कराने वाली आत्मा ही है। अतः स्पष्ट है कि शरीर से होने वाली तमाम प्रक्रियाएं आत्मा से ही होती हैं। अतः मनुष्य के बाहरी जीवन की दिखने वाली हरियाली का मूल आधार भी आत्मा ही है।

भीतर में झांको

जब मनुष्य आत्मा को ध्यान में रखता है और आत्मा की शक्ति को पाने का प्रयास करता है तब वह शरीर को आज्ञा देता है कि तू आत्मा की खोज कर, नेत्रों को आज्ञा देता है कि तू बाहरी निधि को क्या देखती है ? अन्दर की निधि को देख, अन्दर में झांक।

जब ये नेत्र अन्दर में मुड़ते हैं, चमड़े की आंखें नहीं, अपितु आंखों के भीतर में रहने वाली ज्योति रूप शक्ति, जब भीतर में झांकने का प्रयास करती है तव वह भीतरी अक्षय निधि आत्मा को देखने में समर्थ हो जाती है। बाहरी चर्म चक्षु भी देखने में तभी समर्थ होते हैं, जब आन्तरिक ज्योति उनके साथ संयुक्त होती है। अभी आप मुझ को देख रहे हैं या नहीं देख रहे हैं ? यदि आपका ध्यान दूसरी ओर है तो आप न मुझे देख पाएंगे और न ही मेरी बात ही सुन सकेंगे। क्योंकि बाहरी आंखें और कान आन्तरिक ज्योति के माध्यम से ही देख-सुन पाते हैं। अन्तरंग की ज्योति साथ नहीं देती तो ये आंखें भी देखने में समर्थ नहीं होतीं। अतः चर्मचक्षुओं को बन्द करके ज्योति स्वरूप आन्तरिक नेत्रो से देखने का प्रयास कीजिए। उनके साथ चर्म-चक्षुओं को मत जोड़िये। क्योंकि चर्म-चक्षुओं के साथ रहने पर बाह्य पदार्थ ही दृश्यमान होंगे, उससे आन्तरिक अक्षय निधि परिलक्षित नहीं हो सकती। हीरे की सूक्ष्मता का ज्ञान करने के लिये जिस प्रकार सूक्ष्म दर्शक यन्त्र की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आन्तरिक जीवन शक्ति को देखने-जानने और पाने के लिए उसी प्रकार की ज्योति स्वरूप शक्ति की आवश्यकता होती है।

अन्तःसमीक्षण : सुख का महापथ

जब आप अन्दर में झाँकने के अभ्यासी हो जाएँगे, जीवन के अन्तरंग का समीक्षण करने लगेंगे तो वहाँ आपको अक्षय सुख का मूल स्रोत, अपूर्व खजाना इतना

मिलेगा कि आप बटोरते-बटोरते थक जाएँगे, फिर भी पूरा बटोर नहीं पाएँगे। आपको उसे देखकर एक सुखद आश्चर्य होगा। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में भी बतलाया गया है—

"अप्पाकामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं"

आत्मा ही कामदुधा धेनु-गाय है, आत्मा ही नन्दन-वन है। इससे जो चाहे सो मिलता है। अनन्त सुख का स्रोत भी इसी से फूटता है। ऐसा सुख आपको प्राप्त हो जाने पर इन बाहरी वस्तुओं को देखने का आपका मन ही नहीं होगा। आप बैठे-बैठे भीतरी निधि को ही देखने का प्रयास करेंगे। लेकिन यह सब होगा कब ? जब आप पुरुषार्थ करके अन्दर जाने की कोशिश करेंगे, तभी यह सम्भव हो सकता है।

भौतिक खजाना : आध्यात्मिक निधान

जमीन में गड़े धन को निकालने के लिए भी पहले खड्डा खोदेंगे, मेहनत करेंगे, तब कहीं जाकर वह मिलेगा। ऐसा गड्ढा आप मजदूरों से नहीं खुदवाएंगे। कदाचित कोई ज्ञानीजन या भूगर्भवेत्ता आ जाय और वह यह कहे कि मुझे अपने भूगर्भज्ञान से यह महसूस हो रहा है कि इस हवेली के बीच में धन के चरू गड़े हुए पड़े हैं और आपको भी जब पूरा विश्वास हो जाए कि धन के चरू गड़े हैं तब आप उन्हें निकालने के लिए क्या करेंगे ? क्या उसे खोदने के लिए मजदूरों को बुलाएँगे या दरवाजा बन्द करके ऐसे श्रमसाध्य काम को स्वयं ही करने लग जाएँगे ? जिन्दगी में कभी कुदाली चलाने की बात तो दूर, कभी उठाई भी नहीं होगी तो भी आप दरवाजा बन्द करके किसी भी मजदूर को न बुलाकर खुद ही जमीन को खोद डालेंगे और धन को अपने कब्जे में कर लेंगे। क्योंकि आप यह जानते हैं कि यदि मजदूरों को बुलाया और उन्हें धन का ज्ञान हो गया तो फिर वह धन अपने पास नहीं रह सकेगा।

ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक सुख की अक्षय निधि आपके भीतर भरी पड़ी है, उसे बतलाने के लिए साधु तो निमित्त मात्र है। परन्तु परिश्रम तो आपको ही करना होगा। पहली बार जब अन्दर झाँकने का समीक्षण करने का प्रयास करेंगे तो घबरा भी सकते हैं किन्तु साहस के साथ आगे बढ़ने का प्रयास किया जाय। जैसे बाहरी धन को पाने के लिए दरवाजे बन्द किये जाते हैं, वैसे ही इस आध्यात्मिक

धन को पाने के लिए भी दरवाजे बन्द करने होंगे। वे दरवाजे कान, आँख, नाक, रसना और स्पर्श के हैं। इन दरवाजों को बन्द करके जिसने भी समीक्षण के माध्यम से भीतरी अक्षय निधि को समझ लिया है, देख लिया है, तो वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, सदा निश्चिंत रहेगा और समझेगा कि मेरे पास खजाना है। बाहर की पूंजी भी भले ही हाथ से निकल जाए किन्तु आत्मिक शक्ति रूप पूँजी सदा उसे सुखी बनाए रखेगी। ऐसे व्यक्ति के पास बाहरी पूंजी परछाई की तरह स्वतः दौड़ती हुई चली आएगी।

निज स्वरूप का उत्थान : उन्नति का परवान

निज स्वरूप का बोध होने पर आध्यात्मिक श्री के साथ ही भौतिक श्री की समृद्धि में भी अभिवृद्धि किस प्रकार होती है, इसके लिए मैं एक उदाहरण सुना देता हूँ। उनपुर में धर्मपाल नामक एक श्रेष्ठी निवास करता था। नाम के अनुरूप ही उसके जीवन में धर्म के संस्कार रमे हुए थे। धर्मपाल सदा यह सोचता रहता था कि मैंने जो बाहर की सम्पत्ति और वैभव पाया है और पा रहा हूँ वह सारा का सारा आध्यात्मिक जीवन-धर्म का ही प्रभाव है। इसलिए मुझे धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हुए ज्ञानपूर्वक, धार्मिक आचरण करते रहना चाहिए। धर्मपाल, चौबीस घण्टे में एक घण्टा तो पूर्ण रूप से आध्यात्मिक साधना में व्यतीत करता था। श्रेष्ठी के चार पुत्र थे—धनपाल, श्रीपाल, गोपाल और मुद्रापाल। श्रेष्ठी अपने पुत्रों को भी सदा यही शिक्षा देता रहता था कि तुम भी धर्म ध्यान करो। आध्यात्मिक जीवन को सींचो। भौतिक जीवन का मूल भी आध्यात्मिक जीवन है। उसे सींचने पर भौतिक जीवन स्वतः सज-संवर जाएगा। पितृआज्ञानुसार पुत्र भी धर्म के प्रति निष्ठा रखने लगे। वे भी एक घण्टे तक धर्म साधना करने के बाद ही व्यापार-धन्धे में लगते थे।

जब तक पिताजी थे, तब तक यह सब कुछ चलता रहा किन्तु पिता श्री के स्वर्गस्थ हो जाने के बाद कुछ दिन तक तो धर्मध्यान की प्रवृत्ति रही किन्तु बाद में यह प्रवृत्ति प्रतिदिन कम होने लगी। तीनों बड़े भाइयों के मन में धर्म की रुचि निरन्तर कम होने लगी किन्तु चौथा भाई मुद्रापाल, जिसके मन में पिता की हित शिक्षा जीवन की गहराइयों तक उतर चुकी थी, धर्म-साधना के प्रति उसकी रुचि कम होने की बजाय और भी अधिक बढ़ती चली गई। व्यापार में, व्यवहार में, जीवन

के हर आचरण में उसके धर्म टपकने लगा। मुद्रापाल ने यह बहुत अच्छी तरह समझ लिया था कि मैं आध्यात्मिक निधि को सुरक्षित रखूंगा तो ही सुरक्षित रह सकूंगा।

तीनों भाई धर्म का आचरण किए विना ही दुकान पर जाकर वैठने लगे, व्यापार धन्धा करने लगे। आखिर विना मूल सींचे वृक्ष कब तक हरा रहने वाला था? व्यापार में निरन्तर घाटा होने लगा। हर महिने लाखों का नुकसान होने लगा। करोड़ों की सम्पत्ति दिन-प्रतिदिन समाप्त होने लगी। सच कहा है—

धर्म घटता धन घटे, धन घटता मन घटे।
मन घटता मनसा घटे, घटत घटत घट जाय॥

जब व्यक्ति धर्म का आचरण छोड़ देता है तो उसकी वाह्य श्री में भी निरन्तर ह्रास होने लग जाता है। इन तीनों भाइयों का भी यही हाल हुआ। फिर भी उन्होंने आन्तरिक निधि की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया बल्कि यों सोचने लगे, अब जब सम्पत्ति का बंटवारा होगा तो चार विभाग होंगे, मुद्रापाल को एक हिस्सा देना होगा। क्या ही अच्छा हो इसे यों ही घर से बाहर निकाल दिया जाये क्योंकि यह तो भोला-भाला है, इसका एक हिस्सा भी अपने को मिल जाएगा।

देखिए भाइयों की कूटनीति। अपने सगे भाई के प्रति कितना दुर्भावनापूर्ण व्यवहार? जब व्यक्ति के मन में स्वार्थ का जघन्य कर्म उतरने लगता है तो वहां भाई बहिन, माता-पिता सभी रिश्ते कच्चे सूत की भाँति टूट जाते हैं। वहां केवल अपने स्वार्थ को पूर्ण करना ही अवशेष रह जाता है। लोभ और स्वार्थ की निम्न-वृत्ति मानव से कौन-सा जघन्य कर्म नहीं करवा डालती है? तुच्छ स्वार्थों के पीछे मानव क्या नहीं कर डालता है?

जब भाइयों ने आध्यात्मिक जीवन को सींचना ही बन्द कर दिया तो उनका भौतिक जीवन भी क्षत-विक्षत होने लगा और उनका जीवन स्तर इतना अधिक गिर गया कि मानवता और पारिवारिक स्थिति से भी गिरकर जघन्य कार्य करने के लिए भी तत्पर हो गए।

एक दिन तीनों भाइयों ने मिलकर मुद्रापाल को कह ही दिया कि आखिर तुम करते क्या हो? मुखवस्त्रिका बांधकर वैठ जाते हो, दिन भर धर्म-कर्म की रट

लगाए रहते हो। इससे कुछ भी मिलनेवाला नहीं। आखिर तुम कमाते क्या हो? हम कब तक तुम्हें कमा-कमाकर खिलाएंगे? जाओ-यहां से और कमाकर खाओ। भाई की यह तीखी और हृदयवेधक बात सुनकर भी मुद्रापाल घबराया नहीं और सोचने लगा, आज इनकी मति फिर गई है। ये धर्म-कर्म को छोड़ बैठे हैं, इसलिए यह सब कुछ हो रहा है। मुद्रापाल ने विनम्र होकर पिता की सम्पत्ति का एक हिस्सा, जो उसके हिस्से में आता था, उसे देने के लिए कहा तो बोल उठे— वह सब तो तुम्हारे इस प्रकार बैठे-बैठे खाने में खर्च हो गया है, अब तुम्हें देने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है।

आध्यात्मिक निधान का मालिक मुद्रापाल बिना कुछ घबराए हुए, आकुलता-व्याकुलता या अपने भाइयों के प्रति अन्य विचार लाए बिना ही वहाँ से निकल गया और दूसरे गांव में पहुँचा।

उसके पास रहने के लिए कोई मकान तो था नहीं और न ही कोई रिश्तेदार ही थे, जिससे कि वहाँ जाकर ठहर जाता। रिश्तेदार भी हों तो ऐसी हालत में रखने के लिए तैयार नहीं होते। पैसे वालों के तो सभी साथी होते हैं, गरीब का कोई नहीं होता।

मुद्रापाल धर्मशाला में पहुँचा। प्राचीन युग में गरीबों, असहायों के लिए ठहरने के लिए निःशुल्क धर्मशालाएँ होती थीं जिनमें रहकर वे अपनी जीवन-यात्रा का निर्वहन कर सकते थे। मुद्रापाल भी धर्मशाला के एक कमरे में ठहर गया और प्रतिदिन मजदूरी करके पेट भरने लगा। इतना होने पर भी उसने धर्म करना नहीं छोड़ा। धर्माचरण, आध्यात्मिक खजाने की अभिवृद्धि में वह कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं करता। ऐसी स्थिति में भी उसके मन में धर्म के प्रति अश्रद्धा, अरुचि के भाव जागृत नहीं हुए।

एक दिन रात्रि के समय मूसलाधार वर्षा होने लगी। तूफान इतना भयंकर उठा कि बड़े-बड़े मकान भी खण्डहर में बदलने लगे। विशाल वृक्ष जड़ मूल से उखड़ने लगे। ऐसी स्थिति में अनेकों भाई अपनी रक्षा के लिए धर्मशाला में एकत्रित हो गए। कुछ ही समय के बाद एक ओर किसी के चीत्कार-चिल्लाने की आवाज आने लगी, लेकिन उस ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया।

मानवता के पुजारी मुद्रापाल ने उन लोगों को सचेत किया कि अरे, आपके गांव में यह क्या हो रहा है ? कोई व्यक्ति मर रहा है। आप बचाने के लिए क्यों नहीं प्रयत्न करते। लेकिन स्वार्थ में अन्धे किसी ने भी उसकी बात नहीं सुनी। मुद्रापाल से रहा नही गया और वह अकेला ही उस आवाज की दिशा में चला गया। उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि पानी से तर दो कन्याएँ एक बहुत बड़े वृक्ष के टूट जाने से दब गई हैं। उसने साहस के साथ वृक्ष को हटाया और दोनों कन्याओं को साथ लेकर धर्मशाला में आया। बरसात तेज होने से वह भींग चुका था। लेकिन उसने अपनी परवाह नहीं की और कन्याओं को कम्बल ओढ़ाई एवं उनकी सुरक्षा की। धर्मशाला के सभी लोग उसके इस सत्-साहस की प्रशंसा करने लगे। बरसात का जोर कम होते ही उन दोनों कन्याओं के पिता के अनुचर इधर, उधर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इस धर्मशाला में पहुँचे और उन दोनों को यहाँ सुरक्षित देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और जाकर स्वामी को सूचित किया।

कन्याओं का पिता दौड़ता हुआ आया और अपनी बेटियों को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। जब उसे सारी हकीकत का पता चला तो श्रेष्ठी, मुद्रापाल की तरफ कृतज्ञता भरी दृष्टि से देखने लगा और उसका बहुत उपकार मानने लगा। मुद्रापाल ने कहा—अरे सेठजी ! इसमें उपकार की क्या बात है ? यह तो मेरा कर्तव्य था। यदि हम मानव-मानव की रक्षा नहीं करेंगे तो हममें और पशु में अन्तर ही क्या रहेगा ? सेठ उसकी महानता से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे भी आग्रह करके अपनी हवेली ले गया। उसकी सारी जानकारी पाकर अपनी बड़ी कन्या का विवाह इससे करने को उत्सुक हो उठा। उसने अपनी कन्या के सामने जब यह विचार रखे तो वह भी बोल उठी—पिताजी, आपने तो मेरे मन की बात कह दी।

फिर क्या था ? श्रेष्ठी ने अपने विचार मुद्रापाल के समक्ष रखे। लेकिन मुद्रापाल अपनी गरीबी और श्रेष्ठी के ऐश्वर्य की तुलना करते हुए इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ, तो सेठ ने उसे अत्यन्त आग्रह एवं समझा-बुझाकर तैयार कर लिया। जिसके पास आध्यात्मिक तथा मानवता का अटूट खजाना हो, उसके लिए बाहरी धन कोई महत्व नहीं रखता।

आखिर मुद्रापाल का विवाह हो गया। श्रेष्ठी उसे अपने घर पर ही रखना चाहता था। लेकिन मुद्रापाल इसके लिए तैयार नहीं हुआ। वह अपनी पत्नी को

लेकर अलग रहने लगा। मुद्रापाल की पत्नी को हीरे का धन्धा करना आता था। उसने अपने पति मुद्रापाल को वह धन्धा और हीरे की परख सीखा दी; फिर क्या था ? इधर हीरे का व्यापार चला और उधर मुद्रापाल के पुण्य ने साथ दिया। थोड़े ही समय में उसने करोड़ों की सम्पत्ति कमा ली।

कुछ दिनों बाद वह सम्पत्ति लेकर अपने शहर में आकर एक बहुत बड़ी हवेली खरीदकर बड़े आराम से रहने लगा, सच कहा है—

धर्म बढंता धन बढे, धन बढ़ता मन बढ़े।
मन बढ़ता मनसा बढे, बढत बढत बढ जाय॥

इधर उसके तीनों भाइयों ने धर्म को छोड़ा, तो उनके अन्तर का खजाना समाप्त हो गया—परिणामस्वरूप बाहरी जीवन में भी दुःख के बादल मंडराने लगे। वे खाने-पीने के लिए भी मुहताज हो गए। उन्होंने इस नए सेठ का नाम सुना तो वे उसके पास मजदूरी के लिए पहुँचे। ये तीनों भाई तो नहीं पहचान पाए लेकिन मुद्रापाल उन्हें पहचान गया, और बोला अरे आपकी यह स्थिति कैसे हो गई ? फिर क्या था—तीनों भाई अपने छोटे भाई को पहचान गए और अपने कृत्य पर पश्चाताप करके उससे माफी मांगने लगे।

मुद्रापाल, ऐसी हालत में भी तीनों भाइयों के चरणों में पड़ा और उन्हें सान्त्वना दी। सबको अपने यहीं रख लिया और बोला—मेरे ज्येष्ठ भ्राताओ ! मेरी सम्पत्ति आपकी सम्पत्ति है, आप निश्चित होकर यहां विराजिये। लेकिन मैं एक बात बतला दूं कि पिताजी ने जो शिक्षा दी थी, आध्यात्मिक खजाने की सुरक्षा रखना, लेकिन आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए यह सब कुछ स्थिति बनी है। इसलिए अब वापस ऐसी गलती न हो, इसका पूरा ध्यान रखना है। सभी ने अपनी भूल महसूस की और अब सभी भौतिक श्री की अभिवृद्धि बाद में, पहले आध्यात्मिक श्री की अभिवृद्धि के लिए तन्मय होकर निश्चित समय तक साधना करने लगे।

सबका जीवन सुखमय बन गया। बन्धुओ ! मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त हुआ है, यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ। ऐसे जीवन से आध्यात्मिक खजाने

को पाने के लिए प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति अन्तरंग की साधना, जीवन का समीक्षण छोड़कर केवल बाहरी पैसों के पीछे दौड़ता है, उनकी हालत उन तीनों बड़े भाइयों की तरह होती है। छोटे भाई ने इतने कष्टों के बीच रहकर भी धर्म नहीं छोड़ा, परिणामस्वरूप उसका अन्दर बाहर दोनों ही जीवन सुखमय बन गया। जिस किसी भव्य आत्मा को यदि मानव जीवन सुखी बनाना है तो वह इस आध्यात्मिक साधना में लगे, जिससे वह एक दिन अन्तरग के पूर्ण खजाने को प्राप्त कर सकेगा। ऐसे मानव के चरणों को विश्व का सारा ही भौतिक खजाना पूजता रहेगा।

वीतरागता में बाधक : क्रोध

- ☐ मेरा संम्बन्ध प्रभु से कैसे हो ?
- ☐ कौनसा राग उत्तम ?
- ☐ आत्मा का सबसे बड़ा विकार : क्रोध
- ☐ क्रोध एक शिकारी
- ☐ क्रोध रूप अफीम
- ☐ इहलोक परलोक घातक : क्रोध
- ☐ सर्प जहर से भी अधिक : क्रोध जहर
- ☐ घी से भी बढ़कर खून
- ☐ क्रोध के भयंकर घातक परिणाम
- ☐ आत्मा से क्रोध को हटाओ

कोहो य माणो य अणिग्गहिया,
माया य लोभो य पवड्ढमाण्णा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाणा,
सिंचति मूलाइं पुण-ब्भवस्स ।।

दशवैकालिक सूत्र ८/४०

क्रोध और मान जिनके अनिग्रहित हैं, माया और लोभ जिनके बढ़ रहे हैं, उस आत्माओं के लिए, आत्मिक गुणों को मलिन बनाने वाले ये कषाय, उनके पुनर्जन्म रूप वृक्ष के मूल को सिंचित करते हैं ।

क्रोध, आत्मा का भयंकर शत्रु है । इसका उभार कैसे होता है, इसका वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ? इससे क्या-क्या हानियाँ होती हैं ? आदि अनेक विषयों पर सप्रमाण हृदयगम्य विवेचन पढ़िये, प्रस्तुत प्रवचन में ।

प्रार्थना

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूँ, भंगम पडशो हो प्रीत जिनेश्वर।
बीजो मन मन्दिर आयुं नहीं, ए अम कुलवट रीत, जिनेश्वर।
एक पखी केम प्रीति परवडे, अभय मिल्य होय संधि जिनेश्वर।
हूँ रागी हूँ मोहे फंदियो, तूँ निरागी निरवन्ध जिनेश्वर।

वन्धुओ ! धर्मनाथ भगवान् के नाम का उच्चारण करते ही कई बातें उभरकर सामने आती हैं। धर्मनाथ शब्द, धर्मनाथ तीर्थंकर का द्योतक है। वास्तविक धर्म उनके उपदेश से फलित होता है और यह भी ज्ञात होता है कि वे धर्म का स्वरूप अपने जीवन में परिपूर्ण अपना चुके थे। ऐसे धर्मनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए कवि कह रहा है कि भगवन् ! मैं भी धर्म के लिये आप से प्रीति करना चाहता हूँ। आपके साथ सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता हूँ। परन्तु विवेक शक्ति मुझे याद दिलाती है कि सम्वन्ध किसके साथ जुड़ सकता है ? परस्पर दो व्यक्तियों का सम्वन्ध जहाँ जुड़ने का प्रसंग आता है, तो वे दोनों समान स्तर के होने चाहिये। चाहे वय मे समान हों, बुद्धि से समान हों, शरीर बल से समान हों अथवा दुर्गुणों की दृष्टि से समान हों, चोरी और जारी की दृष्टि से समान हों। कहा भी है कि 'समान व्यसनेषु व्यवसायेषु'। समान व्यसन और समान व्यवसाय जिनके हों, उनका ही सम्वन्ध निभता, निखरता है। गंजेड़ी का गंजेड़ी से और भंगेड़ी का भंगेड़ी से सम्बन्ध रहता है। सद्गुणी का सद्गुणी के साथ और दुर्गुणी का दुर्गुणी के साथ सम्वन्ध जुड़ता है।

मेरा सम्बन्ध प्रभु से कैसे हो ?

मैं धर्मनाथ भगवान के साथ सम्वन्ध जोड़ने को तैयार हुआ हूँ। तो क्या मैंने धर्मनाथ भगवान् को अपने बरावरी का समझ लिया ? विवेक शक्ति से देखता हूँ तो कहां धर्मनाथ भगवान और कहां मैं ? इसलिए कवि कह रहा है—'हूँ रागी हूँ मोहे फंदियो, तू निरागी निर्वन्ध'। हे भगवन ! मैंने आपके साथ सम्वन्ध जोड़ने का साहस जरूर किया, परन्तु मेरी विवेक शक्ति कहती है कि यह मेरा दुस्साहस है। मेरे साथ धर्मनाथ भगवान का सम्वन्ध कैसे जुड़ सकता है ? क्योंकि धर्मनाथ भगवान तो निरागी हैं। उनमें राग नहीं है, द्वेष नहीं है। काम और क्रोधादि शत्रु भी नहीं हैं और मैं अपने आपमें देखता हूँ तो मेरे अन्दर राग है, द्वेष है, काम, क्रोध, मद, मत्सर

तृष्णादि दोष भरे हुए हैं। तो मैं उनके साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ सकता हूँ ? व्यवहार पक्ष में देखा जाता है कि व्यक्ति किसी सभ्य व्यक्ति से हाथ मिलाना चाहता है तो जो सभ्य पुरुष है उसके हाथ तो बिल्कुल स्वच्छ, साफ-सुथरे हों और जो हाथ मिलाने की चेष्टा कर रहा है, उसके हाथ अशुचि या कीचड़ से भरे हुए हों, तो वह अशुचि और कीचड़ से भरे हुए हाथों को साफ करके ही मिला सकता है। यदि वैसे ही मिलाता है तो बड़ी अयोग्यता सावित करता है। इसी दृष्टि से कवि कह रहा है कि मैं कैसे तुम्हारे से हाथ मिला सकता हूँ ? ये बाहरी हाथ नहीं, परन्तु भीतरी हाथ हैं। भीतरी हाथ मेरे कीचड़ से भरे हुए हैं, सने हुए हैं। उन हाथों को मैं कैसे लम्बे करूँ ? आप पवित्र आत्म स्वरूप विशुद्धि वाले हैं, वैसा मैं नहीं हूँ। कवि आनन्दघनजी की यह भावना है। कहिए ! क्या आप भी भगवान से हाथ मिलाना चाहते हैं ? मिलाने को तो आप सब तैयार हैं। परन्तु देखिए ! मिलाने से पहिले अपने हाथों को धो डालना, साफ कर लेना और अपने आपके अन्दर देखना कि हमारा अन्तरमन कैसा है ?

कौनसा राग उत्तम ?

जब तक व्यक्ति छद्मस्थ है, तब तक उसमें राग भी हो सकता है। छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक प्रशस्त राग होता है इसलिए सराग संयमी कहा है। परन्तु वह आध्यात्मिक साधना में बाधक नहीं होता है और जो राग संसार के पदार्थों से, परिवार और स्त्रियों से, धन और वैभव से है--वह अप्रशस्त राग है। वह अन्तरमन को मलीन बनानेवाला है। इस राग के वशीभूत होकर मनुष्य आज अपने आपको भूलकर कृत्य क्या है ? अकृत्य क्या है ? इसको वह नहीं पहिचान पाता। वेभान होकर चल रहा है। कितना अपने अन्दर कीचड़ इकट्ठा करता है ? इसका कभी अवलोकन कर देखें तो पता चले कि हमारी दशा क्या है ? और कहां भगवान की दशा है ? तव भगवान के साथ कैसे प्रीति जुड़ सके ? प्रीति, यह दो से सम्बन्धित है। भगवान में प्रशस्त राग नहीं है, सरागी छद्मस्थों में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों राग हैं। प्रशस्त राग पुण्य की तरह अमुक सीमा तक ऊपर बढ़ानेवाला है। अप्रशस्त राग तो आम जनता में भरा पड़ा है। इसी के कारण मनुष्य क्षण-क्षण में कर्मबन्धन करता हुआ चला जा रहा है।

आत्मा का सबसे बड़ा विकार : क्रोध

सभी विकारों में से, मलीन भावों में से एक ही भाव लें, तो जिसे साधारण भाषा में आप बोलते हैं गुस्सा–क्रोध। यह क्रोध क्या है ? आप जानते हैं ? कई मनुष्य क्रोध से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। उसके आधीन हो जाते हैं। उसको ओढ़ लेते हैं, परन्तु जानते नहीं हैं कि यह कौन सी चिड़िया का नाम है ? क्रोध से कभी-कभी मनुष्य स्वयं खिन्न हो जाता है। अपने आप में हैरानी का अनुभव करने लगता है कि हा ! यह क्या कर डाला ? मैं गुस्सा नहीं करता और शांति से उत्तर देता तो कितना अच्छा रहता ? परन्तु मैं गुस्से में आ गया। आवेश में आकर जवाब दे दिया। उसकी अन्तरात्मा चाहती है कि ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु यह इतना जबर्दस्त है कि सब आत्माओं को घेरकर खड़ा है। यह प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के पास में बैठा हुआ है।

क्रोध एक शिकारी

शिकारी पशु या शिकारी मनुष्य जैसे शिकार की टोह में बैठा रहता है कि मुझे अवसर मिले और मैं शिकार खेलूं। वैसे ही यह गुस्सा बहुत बड़ा शिकारी है, ऐसा कहूँ तो चले, और दूसरे की घात करनेवाला शत्रु कहूँ तो भी चले—इसके मन के विपरीत जरा भी हुआ नहीं कि झट सारी आत्मा की शक्तियों पर ऐसा जाल फैला देता है कि जिससे उसकी बुद्धि गुम हो जाती है। गुस्से के आवेश में जो व्यक्ति आ रहा है, उस वक्त उसको कोई सज्जन–स्नेही जन समझाने की चेष्ठा करे कि खामोशी रखो तो सुनेगा नहीं। उस समय वह बेभान बन जाता है। यह मन का बहुत बड़ा अशुद्ध रूप है—मलीन रूप है। जैसे अशुचि से भरे हाथों को सभ्य मनुष्यों के सामने नहीं बढ़ाया जाता है, वैसे ही भयंकर जहर यदि हाथों के लिपटा हुआ है और पता है कि यह जहर भरा हाथ अन्य व्यक्ति के लगाया नहीं कि उसके भी असर करेगा। तो उस वक्त भी सभ्य व्यक्ति उस हाथ को आगे नहीं बढ़ाता है। इस गुस्से को, इस क्रोध को आप अशुचि और जहर भी कह सकते हैं। जहर मनुष्य के प्राणों का हरण करता है। यदि कोई सीधा-सादा व्यक्ति जहर ले लेता है तो उसके प्राण नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही क्रोध रूपी जहर से मनुष्य के प्राण नष्ट हो जाते हैं। बाहरी जहर तो एक ही भव समाप्त कर पाता है, पर क्रोध का जहर भव-भवान्तर बिगाड़ देता है।

क्रोध रूप अफीम

मनुष्य जितना गुस्सा करता है, उतना ही वह अपने आयुष्य को खत्म करता है। अफीम वह जहर है, जिसको थोड़ी-थोड़ी मात्रा में लेते-लेते उसकी लत पड़ने से उसकी मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते फिर एक तोला भी लेने लगता है, उससे वह धीरे-धीरे अपने प्राणों को समाप्त कर देता है। उन अफीमचियों की जिन्दगी जल्दी समाप्त हो जाती है। वे जितना आयुष्य लेकर आएं हैं, पूरी नहीं भोगते हैं। वे बन्दूक की गोली के सदृश जल्दी नहीं मरते—एक साथ नहीं मरते हैं। परन्तु धीरे-धीरे मर जाते हैं। वैसे ही यह गुस्सारूपी जहर मनुष्य को तत्क्षण मालूम नहीं होता परन्तु धीरे-धीरे यह मनुष्य के प्राणों पर असर करता है। यह परलोक बिगाड़ता है सो तो बिगाड़ता ही है परन्तु इहलोक भी बिगाड़ता है।

इहलोक परलोक घातक : क्रोध

आधुनिक युग के प्रवाह में बहनेवाले अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जो कि आत्मा-परमात्मा, जन्म-पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं रखते। उनका तो यही सिद्धान्त रहता है कि—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्
भस्मीभुतस्य देहस्य,
पुनरागमनं कुतः

जब तक जीओ सुखपूर्वक जीओ। यदि मौज-मजा, ऐश्वर्य करने के लिए स्वयं के पास पैसा नहीं है तो उधार ले लो। क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर कोई पुनरागमन-पुनर्जन्म नहीं होता। शरीर के विनाश के साथ ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। ऐसी मान्यतावालों के सामने आए दिन पत्रिकाओं में आनेवाले पुनर्जन्मसिद्धि के अकाट्य प्रमाणों ने एक प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है। खैर, पुनर्जन्म की बात गौण भी कर दें, तो पहले इस जीवन को सुखी बनाने के लिए भी क्रोध को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वर्तमान जीवन में तो सब सुख चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि हम तन्दुरुस्त रहें। क्या कोई व्यक्ति यह चाहता है कि मैं

बीमार बना रहूं ? क्या कोई चाहता है कि मेरे शरीर में खून की कमी हो जाए ? और कदाचित् कमजोरी मालूम होने लगी तो झट डॉक्टर और वैद्य को बताएगा कि आज शरीर में कमजोरी क्यों महसूस हो रही है ? डॉक्टर यदि कहता है कि तुम्हारे खून की कमी है । अतः तुम खाना सादा खाओ, हल्का खाओ, भारी मत खाओ । जिससे खून बढ़े वैसा खाना खाओ । डॉक्टर के कथनानुसार वह दूध लेता है, फल-फ्रूट खाता है और यही चाहता है कि मेरे खून बढ़ जाए । इधर तो खून बढ़ाने की औषधि ले रहा है और उधर उसके पास एक गरीब व्यक्ति आ गया । वह कहता है कि भाई साहब, मैं गरीब हूँ, मेरे **ऑप्रेशन** का प्रसंग है । परन्तु डॉक्टर कहता है कि **ऑप्रेशन** में खून चाहिए । जो पैसे वाले हैं, वे तो पैसों से जल्दी खून प्राप्त कर लेते हैं परन्तु मेरे पास पैसे नहीं हैं । इसलिए कृपा करके आप मुझे अपना थोड़ा खून दे दीजिए । बन्धुओ ! जो अपना खुद का खून बढ़ाने के लिये औषधि ले रहा है, उससे दूसरा मरीज खून मांग रहा है । तब वह कहेगा भाई ! मैं तो पहिले ही कमजोर हूँ । खून बढाने की औषधि ले रहा हूँ । मैं तो खून नहीं दे सकता हूँ । वही व्यक्ति एक वक्त अति जोर से गुस्सा करता है तो वैज्ञानिकों के कथनानुसार एक पौंड भर खून को नष्ट कर डालता है । इसका वैज्ञानिकों ने परीक्षण किया है । वैज्ञानिक लोग कहते हैं, एक पौण्ड खून तो जल जाता है. पर जो अवशेष रहता है उसमें अमुक अमुक प्रकार का पॉयजन बन जाता है, उस पॉयजन को रासायनिक प्रक्रिया से बाहर निकाल कर यदि मनुष्यों पर प्रयोग किया जाय तो उससे ८० मनुष्यों की मृत्यु हो सकती है । यही कारण है कि जो ज्यादा गुस्सा करता है वह खाते-पीते भी कमजोर रहता है । इसका तो आप लोगों को प्रत्यक्ष में अनुभव है । चिन्तन कीजिए कि कोई बाहर का व्यक्ति आया और आपसे कहने लगा कि पांच सौ रुपए देकर मैं एक जहर का इन्जेक्शन लगाता हूँ, किन्तु आप हजार रुपये मिलने पर भी नहीं लगवायेंगे । परन्तु यह क्रोध रूपी शत्रु ऐसा इन्जेक्शन लगा देता है कि वह अवशिष्ट रहा हुआ रक्त, अस्सी आदमियों को मारने वाला जहर पैदा कर देता है ।

सर्प के जहर से भी अधिक : क्रोध का जहर

बन्धुओ ! इस क्रोध के अधीन क्यों होते हो ? आपने यह सुना होगा, मैंने सुना है कि जो क्रोध अथवा गुस्सा करता है उसमें इतना जहर पैदा हो जाता है कि सर्प के जहर को भी मात कर देता है । एक सर्प ने किसी अत्यन्त क्रोध कर रहे मनुष्य को

काटा, तो उस व्यक्ति को सर्प का जहर तो नहीं चढा, परन्तु उस क्रोधी व्यक्ति का जहर सर्प को चढ़ गया। वह थोड़ी दूर जाकर मूर्छित होकर गिर गया और मर गया। देखिये ! मनुष्य अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखना चाहता है और कमजोरी आने पर डॉक्टर से दवा लेकर खून वढ़ाता है, परन्तु उसी खून को गुस्सा करके व्यर्थ में गंवा देता है। जरा विचार की जरूरत है।

घी से भी बढ़कर खून

कभी-कभी भाई कहते हैं कि क्या करूं मुझे छेड़ दिया तो गुस्सा आ गया। अरे भाई, घी लेकर जा रहे हो और कोई छेड़ने वाला मिल गया तो क्या घी डाल दोगे ? नहीं। इसी तरह से कोई दूसरा व्यक्ति आपको छेड़ता है तो वह व्यक्ति आपके खून को जलाने के लिए छेड़ता है। उस समय आप इतने भोले बन जाते हैं कि उसने छेड़ा और आप क्रोधित हो गए। क्या विडम्बना है ? इस क्रोध से वर्तमान शरीर का नाश तो होता ही है, खून का भी साथ में नाश हो जाता है। सुज्ञजन इसका विशेष रूप से ध्यान रखेंगे तो उनकी तन्दुरुस्ती ठीक रहेगी और कर्म-वन्ध से भी वचेंगे। इस क्षमाशीलता से आत्म-शुद्धि और निर्जरा भी होगी। इससे इहलोक के साथ परलोक भी सुधरेगा।

क्रोध के भयंकर घातक परिणाम

मनोविज्ञान के डॉक्टरों ने कहा है कि मनुष्य के शरीर में चाकू का या किसी शस्त्र का घाव लगता है तो उस पर स्प्रिट लगा दी जाए ताकि सेप्टिक नहीं हो—जबकि स्प्रिट घाव नहीं भरती है—अपने आप घाव भर जाता है। यह तो वाहरी शस्त्र का घाव ऊपर के शरीर पर होता है। परन्तु गुस्से रूपी शस्त्र का घाव वुद्धि पर होता है। उन्होंने वुद्धि को ज्ञान का एक माध्यम माना है, उसमें यदि घाव हो जाता है तो वह भरता नहीं है और जो रोजाना गुस्सा करता रहता है, उसके सोचने-समझने की क्षमता नष्ट प्रायः हो जाती है, चाहे वह विद्यार्थी ही क्यों न हो ? वह यदि क्रोध करते हुए चाहे कि परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊं तो कठिन है। परीक्षा में वैठा और किसी ने छेड़ दिया, वहीं गुस्सा आ जाएगा, दिमाग गर्म हो जाएगा। फिर प्रश्न-पत्र ठीक तरह से हल नहीं कर सकेगा। वह कुछ का कुछ लिख देगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी सिद्ध हो गया है कि जो ज्यादा गुस्सा करता है, उसे कभी लकवा मार जाता है और कभी हार्टफैल भी हो जाता है - जोर से गुस्सा करने से कभी मस्तिष्क की नस भी फट जाती है और जीवन लीला समाप्त हो जाती है। गुस्से के कई उदाहरण सामने आ चुके हैं। धर्मस्थान को लेकर दो भाई एक शिला के लिए लड़े और लड़ते-लड़ते एक भाई इतना उत्तेजित हो गया कि मस्तिष्क का हेमरेज हो गया और वह मर गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष में क्रोध के इतने नुकसान हैं। यह वर्तमान जीवन को भी नुकसान पहुँचाता है और परलोक भी बिगाड़ता है। ऐसी स्थिति में नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति भी अपने जीवन को खतरे में नहीं डाल सकता है। परन्तु भद्रिक भाई गुस्से में आकर अपने जीवन को कितने खतरे में डाल देते हैं। इसका चिन्तन, मनन भी नहीं करते। व्यर्थ में गुस्से में आकर अपने आपको नष्ट करते हैं। वे अपने प्राणों का भी नाश करते हैं। तीर्थंकरों ने घोषणा की है कि—

कोहो य माणो य अणिग्गहिया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि ए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

दशवै. ८—४०.

जिनकी आत्मा को संसार से मुक्ति पाना हो उनको क्या करना चाहिये? इसके लिए भी भगवान् महावीर और अनन्त तीर्थंकरों ने यह घोषणा की कि क्रोध और लोभ, मान और माया इनकी धुलाई करो। इनकी धुलाई करने से तुम्हारे जीवन और मरण का चक्कर मिटेगा और जब तक आप इनके अधीन रहोगे तब तक संसार बढ़ता हुआ चला जाएगा। आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। कभी-कभी व्यक्ति को गुस्सा करने वाला नहीं मिलता है तो वह अपने आपके ऊपर गुस्सा करने लग जाता है।

क्रोध का भयंकर परिणाम

कई भाई चाहते हैं कि महाराज सा० ! इस गुस्से के विषय में कुछ समझाइए। अभी तो इससे होने वाला नुकसान ही नुकसान समझा रहा हूँ। एक रूपक आपके समक्ष रख देता हूँ ताकि गुस्से का पूरा नक्शा आपके सामने आ जाए।

इंग्लैंड में एक भाई था। वह क्रिकेट का अच्छा खिलाड़ी था। एक दिन वह क्रिकेट खेल रहा था। आप जानते ही हैं कि खेल में हार-जीत तो होती ही है। दो

खिलाड़ी खेलते हैं तो एक जीतता है और दूसरा हारता है। खेल का परिणाम यही है। सबके सब नहीं जीतते हैं। एक बार हार जाता है तो दुबारा जीत भी सकता है। वह भाई उस खेल में इस बार हार गया। उसे इतना गुस्सा आया कि वह जीतनेवाली टीम के ऊपर तो गुस्सा नहीं निकाल सका, परन्तु जब वह घर पर पहुँचा तो गुस्से में आग-बबूला हो रहा था। उसकी पत्नी उसके स्वभाव को जानती थी। वह पत्नी इतनी चतुर थी कि उसकी आकृति को देखकर उसके मन की बात को ताड़ जाती थी। यह भी उसको ख्याल था कि मेरे पति जब गुस्से में आते हैं तो भान भूल जाते हैं। कभी-कभी अपनी घात के साथ दूसरे की भी घात कर डालते हैं। पत्नी उसकी आकृति को देखकर समझ गई कि रोष में हैं, आज कुछ न कुछ कहर अवश्य ढायेंगे। उसने शीघ्रता से कमरे की सजावट कर दी, यथास्थान टेबिल पर भोजन की प्लैटें वगैरह जमा दीं और किसी बात की कमी नहीं रखी, परन्तु उसके गुस्से का आवेग बढ़ता ही जा रहा था। वह बाहर में तो निकाल नहीं सका। पत्नी को देखते ही—उस पर बरस पड़ा और प्लेटें फोड़ने लगा। पत्नी ने देखा कि इनके शरीर में आ गया है भूत, अब मेरी खैर नहीं है। यह देव योनि का भूत नहीं है, पर ज्ञानीजनों ने इसको भूत की संज्ञा भी दी है। यह जिसके शरीर में प्रवेश कर जाता है तो जल्दी से नहीं निकलता है। पत्नी एकदम दरवाजे से बाहर निकल गई और बाहर से कूंदा लगा लिया। वह अन्दर ही अन्दर गुस्सा करने लगा। अन्दर में एक लाठी पड़ी थी, उससे प्लेटें फोड़ीं, प्लैटें फोड़ने के पश्चात् कांच फोड़ने लगा और जो घर के बर्तन थे उनको भी फोड़ दिये। फर्नीचर को नुकसान पहुँचाया। कहिए! यह किसका नुकसान हो रहा है? अरे! जीवन का खून तो जल ही रहा है परन्तु बाहर की कीमती सामग्री को भी नष्ट कर रहा है। सैंकड़ों रुपयों की सामग्री नष्ट कर दी और फिर भी क्रोध शांत नहीं हुआ तो दांतों से अपनी चमड़ी को भी काटने लगा। वह खून से लथपथ हो गया। आखिर शिथिल होकर धड़ाम से नीचे गिरा। उसकी पत्नी किंवाड़ के छिद्र में से सब कुछ देख रही थी। जब उसने देखा कि अब वे शांत हो गये हैं तो दरवाजा खोलकर अन्दर आई और उनकी मरहमपट्टी की। अब वह भी रोने लगा और अपने किए पर पश्चाताप करने लगा। परन्तु जो नुकसान हो गया था वह तो फिर नहीं आ सकता था।

आत्मा से क्रोध को हटाओ

बन्धुओ ! जीवन की इतनी बड़ी शक्ति को नष्ट करने वाला. इतना भयंकर शत्रु, इसको साथ में नहीं रहने देना चाहिए। मन में प्रवेश नहीं होने देना चाहिए। यदि सुज्ञजन इसको उपयुक्त समझें तो इस पर चिन्तन करें और अपने जीवन को सम्भालने की चेष्टा करें। बहुत लम्बी प्रक्रिया है। परन्तु आप कभी सोचते होंगे कि गृहस्थाश्रम में रहता हुआ व्यक्ति भी क्या कभी गुस्से को शमित कर सकता है ? मैं सोचता हूँ कि क्यों नहीं कर सकता ? चाहे तो सब कुछ कर सकता है, बल्कि जो ज्यादा गुस्सा करने वाले हैं वे कभी-कभी ज्यादा क्षमाशील भी हो सकते हैं। परन्तु चाहिए अन्दर की लगन। ऐसे कई ऐतिहासिक उदाहरण हैं। उन उदाहरणों को रखने का अभी समय नहीं है पर इतना अवश्य कहूँगा कि यह तो मात्र क्रोध का अति संक्षिप्त रूप आपके सामने आया है, इसका विस्तृत स्वरूप समझने के साथ ही साथ वीत-रागता में बाधक अन्य दुर्गुणों के स्वरूप को भी समझें। केवल समझकर ही नहीं रहें, उन्हें आत्मा से हटाने का दृढ़ संकल्प करें। दृढ़ संकल्प से वे दुर्गुण आपकी आत्मा से अवश्य दूर होंगे। जैसे-जैसे उन दुर्गुणों का आत्मा से दुराव होगा, आपका भगवान् धर्मनाथ के साथ सम्बन्ध जुड़ता हुआ चला जायेगा।[1]

---

१ क्रोध सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए आचार्य प्रवर द्वारा ही उद्बोधित 'क्रोध-समीक्षण' नामक स्वतन्त्र पुस्तक पठनीय है।

प्रवृत्ति हो क्षमा में–निवृत्ति हो क्रोध से

उवसमेण हणे कोहं

—दशवैकालिक सूत्र— 8/39

उपशम से क्रोध का हनन करो।

क्रोध को जीतने के लिए जीवन में क्षमा का आना आवश्यक है। जीवन को क्षमामय बनाने के लिए अन्तरंग में समीक्षण की नितान्त आवश्यकता है।

क्रोध, आत्म की ही नहीं, अपितु शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की हानियाँ करता है। अतः इसे कैसे जीतें ? इसके लिये पढ़िये प्रस्तुत प्रवचन में क्रोध विषयक अवशिष्ट मार्मिक विवेचना।

विमल जिन दिट्ठा लोयण आज।
मारा सिज्या वांछित काज ॥

बंधुओ ! भव्य जीवों को ज्ञानी जन जो कुछ भी उपदेश–प्रतिबोध देते हैं, उस प्रतिबोध में 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की स्थिति नहीं रहती। उपदेश देते हुये कभी यह नहीं कहा जाता है कि मैं कहता हूँ सो मान लो। बल्कि यह स्पष्ट निर्देश होता है कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह असंदिग्ध, दृष्टा, अवितथ, प्रवक्ता, वीतराग वाणी के अनुसार कहा जा रहा है। उस कथन पर चिन्तन-मनन किया जाए तो वस्तु-सत्य स्वतः ही स्पष्ट रूप से उजागर हो जाता है, क्योंकि वीतराग-वाणी का कुछ महत्त्व ही ऐसा होता है कि वह भव्य-साधक के हृदय को छू जाती है।

आग्रहमुक्त : जिनवाणी

वीतराग वाणी में किसी भी आचरण के प्रति आग्रह-दुराग्रह नही होता। मध्यस्थ दृष्टि से उपदेश दे दिया जाता है। आचरण करना है या नहीं, यह सब श्रोताओं के ऊपर छोड़ दिया जाता है। उनकी इच्छा हो तो ग्रहण करें, न हो तो न करें। महाप्रभु महावीर के पास कोई व्यक्ति दीक्षा लेने की भावना से आया तो भी महाप्रभु ने कभी उससे आग्रह नहीं किया, बल्कि यही कहा—'अहासुहं देवाणुप्पिया' हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो। क्योंकि यह सत्य है कि किसी पर दबाव डालकर यदि आचरण करवाया जाएगा तो वह आचरण स्थायित्व को प्राप्त नहीं हो सकेगा। स्वेच्छा से किया गया आचरण ही स्थायित्व को प्राप्त होता है और यथानुरूप फलवान भी होता है। महाप्रभु का मुख्य उद्देश्य लोगों को हिताहित का ज्ञान कराना रहा है। क्योंकि हित-अहित का विवेक होने पर ही हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति हो सकती हैं। जब किसी बालक को यह समझा दिया जाए कि यह पॉयजन–जहर है, जिसे खाने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है, तो वह बच्चा उस जहर को खाने के लिए कतई तैयार नहीं होता है। यही स्थिति भव्य आत्माओं की वीतराग-वाणी को सुनकर होती है। उनकी भी अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होने लग जाती है।

जीवन की मणियां

हित तत्त्वों में प्रवृत्ति भी तभी हो सकती है, जब अन्तर में पैठ की जाय। जीवन की ऊंचाइयो का स्पर्श वहीं से होगा। विशालकाय वड़े-वड़े पहाड़ों की चट्टानों के वीच कहीं-कहीं चम-चम करती हुई मणियां भी उपलब्ध हो जाय, जिन्हें पाने के लिए मानव को न मालूम कितना परिश्रम करना पड़ता है, तो आप जानते ही हैं अत्यन्त परिश्रम के वाद भी यह आवश्यक नहीं होता कि उसे मणियों की उपलब्धि हो ही जाय। फिर भी खोजी व्यक्ति अपनी खोज नहीं छोड़ता। व्यापारी, व्यापार करता है, दिन-रात परिश्रम करता है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि उसे धन की प्राप्ति हो ही जाए, तो भी व्यापारी व्यापार करना नहीं छोड़ता है। जब बाहरी धन को प्राप्त करने के लिए भी इतने परिश्रम करने की आवश्यकता होती है तो वधुओ! जरा विचार करिये—जीवन की मणियां, अन्तरंग की चमक-दमक को पाने के लिए कितने परिश्रम की आवश्यकता होगी? जरा अपनी मानसिक शक्ति को बाहरी प्रवृत्तियों से हटाकर अन्तरंग की ओर नियोजित करने का प्रयास करें।

धैर्यता मत खोइये

अन्तरंग की खोज यद्यपि वहुत रुक्ष विषय है, किन्तु जव रुक्ष विषय से भी सरस तत्त्व मिलने वाला होता है तो समझदार मानव उसे छोड़ता नहीं है।

बंजर भूमि पर भी कृषक अपना परिश्रम नहीं छोड़ता है, उसे खोद-खोद कर कंकर-पत्थर वाहर निकाल कर, उसे सरस और उपजाऊ वना देता है और उसमें समय पर बीज वो देता है, अत्यन्त परिश्रम के साथ उसका सींचन-संरक्षण करने लगता है। अव उसका परिश्रम चमत्कार दिखाता है और वह बंजर भूमि अत्यधिक फसल से लहलहा उठती है। यह है परिश्रम और धैर्यता का फल। ठीक उसी प्रकार आज के मानवों के अन्तरंग का जीवन भी बंजर हो चुका है। वह काम-क्रोध, मद-मोह, विषय-कषाय आदि कंकर-पत्थरों से भरा पड़ा है। जव तक इस बंजरता को दूर नहीं किया जायेगा तव तव उनमें धर्म का वीज नहीं वोया जा सकेगा। इसके लिए कठिन परिश्रभ करना ही होगा। अविचल विश्वास और अटल धैर्य के साथ परिश्रम किया जाए तो अन्तरंग जीवन में भी शांति की वह फसल लहलहा सकती है। आवश्यकता है धैर्यता के साथ सत्पुरुषार्थ करने की।

प्रतिबम्ब देखो : स्वच्छता में

जीवन में अन्तरंग की बंजर भूमि को सरस बनाने के लिए सत्पुरुषार्थ की आवश्यकता है। वह सत्पुरुषार्थ आत्मा को निर्मल बनाने वाला बनता है। निर्मल वस्तु का ध्यान करने से व्यक्ति निर्मल बनता है और मलीन वस्तु का चिन्तन करने से व्यक्ति की मानसिक भूमिका भी मलिन बन जाती है। मनुष्य कीचड़ के सामने खड़ा होता है तो उसका प्रतिबिम्ब कीचड़ से सना प्रतीत होता है और स्वच्छ पानी के सामने खड़ा होता है तो उसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ रूप में उभरने लगता है, ठीक इसी प्रकार निर्मल गुणों के स्वामी तीर्थंकर देव के जीवन को सामने रखने पर स्वयं के जीवन में भी पवित्रता का प्रतिबिम्ब पड़ता है। आत्मा में जो गुण मलिनता को प्राप्त हैं, कर्मों के उदय से जो अशुद्ध बन चुके हैं, जिन्हें विकारी भाव की दशा भी कहा जा सकता है। वैभाविक रूप या राग-द्वेष, काम-क्रोध की परिणति भी कहा जा सकता है, उन काम-क्रोधादि के प्रभाव से आत्मा के निर्मल गुण भी मलिन बन जाते हैं। जैसे कि चमकदार रत्न मिट्टी से लिप्त होकर मलिन हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी मिट्टी से मलिन हो जाती है।

तीर्थंकरों ने जब पवित्र स्वरूप को प्राप्त किया तो उनकी आत्मा पर रहा कर्म का मलिन रूप दूर हटाता चला गया। अतः ऐसे पवित्र महाप्रभु की स्तुति करते हुए जीवन के भीतर प्रवेश किया जाय तो स्वयं का जीवन भी पवित्र बन जाता है क्योंकि निर्मल वस्तु का ध्यान करने से व्यक्ति स्वयं भी निर्मल बन जाता है।

सजातीय निमित्त

निमित्त जरूर चाहिए, निमित्त से व्यक्ति जल्दी ऊपर आता है। परन्तु निमित्त भी ऐसा हो, जो गुणों को बाहर प्रकट करने वाला सजातीय हो, विजातीय निमित्त नहीं। सजातीय का मतलब यह है कि जिस जाति में भगवान ने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया है, वैसी ही शुद्ध जाति सजातीय है। क्योंकि स्वजाति का व्यक्ति स्वजाति के व्यक्ति को जल्दी ही आकर्षित कर लेता है। शायद इसका आप लोगों ने कभी अनुभव किया हो। हम संतों को तो प्रायः इसका अनुभव होता रहता है। उदाहरण के रूप में जब विहार के प्रसंग से हम एक

गांव से दूसरे गांव जा रहे थे, इस बीच जंगल में हमें देखने को मिला कि एक तीतर पकड़ने वाला व्यक्ति, तीतर पकड़ने के लिए जंगल में आया हुआ था। उसके पास में पाला हुआ एक तीतर पहले से ही था। उस व्यक्ति ने उस तीतर को झाड़ियों के बीच छोड़ दिया। अब वह तीतर जोर-जोर से आवाज लगाने लगा। अपने स्वजातीय तीतर की आवाज सुनकर अनेक तीतर जो झाड़ियों में छिपे हुए थे, बाहर आने लगते और वहां एकत्रित होने लगते, जिससे वह तीतर पकड़ने वाला सुगमता से उन्हें पकड़ सके। तीतर पकड़ने के लिए अधिकतर लोग ऐसा करते हैं क्योंकि विना तीतर की आवाज के अन्य तीतर झाड़ियों से निकलकर बाहर नहीं आते हैं।

तीतरों की तरह ही मनुष्य जीवन भी एक ऐसा सजातीय जीवन है, जिससे परमात्म स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। मनुष्य जीवन में रहने वाली आत्मा के चारों ओर भी कर्मों की ऐसी झाड़ियां हैं कि उनके बीच में यह आत्मा अपने आपके निर्मल स्वरूप में होकर भी उसमें उलझी हुई है। ऐसी इस आत्मा को बाहरी तत्त्वों में आप बुलाना चाहें तो वह आ नहीं सकती। आत्मा की जाति का शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही है। जब आत्मा, परमात्मा के निर्मल गुणों को याद करती है, तब उस आत्मा का परमात्म स्वरूप निखरने लगता है और वह आत्मा कर्मों की झाड़ियों से हटती हुई अपने परिपूर्ण स्वरूप को निखारने में समर्थ हो जाती है।

मानस हंस को जागृत करो

कवि ने भगवान को संबोधित करते हुए कहा है कि 'मुनिजन मानस हंस'। भगवन ! आप गुणीजनों के निर्मल मन रूप सरोवर के हस हो। वह हंस सरोवर के किनारे बैठता है, जहां उसे मोती मिलते हैं। वैसे ही भगवान रूपी हंस भी जिस व्यक्ति के मन सरोवर में गुण रूपी मोती बिखरे होते हैं, वहीं जाकर बैठते हैं। भगवान कोई सिद्ध लोक से चलकर नहीं आते, अपितु ज्यों-ज्यों हमारे गुणों का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों हमारी आत्मा का भगवत् स्वरूप प्रकट होने लग जाता है। इसीलिए आनन्दघन जी ने संकेत किया है—तुम स्वयं अभ्यास करो, गुण ही तुम्हारे जीवन में लाभप्रद सिद्ध होंगे। यदि अपने जीवन को गुणों की तरफ आकर्षित नहीं किया तो यह आत्मा, स्वस्वरूप को निखारने में समर्थ नहीं हो सकेगी। स्थिति में अनादिकाल से संसार में भटकती आई है और भटकती रहेगी।

क्रोध बनाम संसार विस्तार

कल मैंने कषाय विवेचन में क्रोध कषाय के विषय में कुछ बतलाया था। जब आत्मा इसका यथार्थ बोध प्राप्त कर इन्हें दूर करने का प्रयास करती है, तब वह निरन्तर वीतराग भाव की ओर बढ़ने लगती है और जो आत्मा कषाय भाव में रहती है, वह आत्मा संसार को, भव-भवान्तर को बढ़ाने लगती है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है—'जे गुणे से मूलठाणे, जे मूलठाणे से गुणे' अर्थात् जो व्यक्ति कषायरूप मूल को सींचता है, वह संसार के मूल का सिंचन करता है। ऐसा व्यक्ति संसार-सागर में डूब जाता है। जैसे काजल की डिब्बी में काजल ठसाठस भरा हुआ है, वैसे ही कर्मवर्गणा के योग्य पुद्‌गल संसार में ठसाठस भरे हुए हैं। जब व्यक्ति गुस्सा करता है तो कर्मवर्गणा के पुद्‌गल आत्मा को मलिन बना देते हैं। जब उत्तेजना आने लगती है, तब आत्मिक स्वरूप मलिन से मलिन होता हुआ चला जाता है। क्रोध की उत्तेजना से आत्मा की कर्मों से मलिनता ही नहीं, अपितु शारीरिक हानियां भी होती हैं। इससे ब्लड प्रेशर, लकवा, हार्ट-फेल तथा ब्रेन-हेमरेज भी हो जाते हैं।

क्रोध को हटाएं

क्रोध की इन हानियों को जानते हुए क्रोध को दूर करने का प्रयास करें। यद्यपि शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो, जो अपनी ही हानि करना चाहे, तथापि क्रोध में बेभान होकर वे अपनी हानि करते रहते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें होने वाली स्वयं की हानियां जान लेना आवश्यक है जो कि मैं बतला चुका हूं। जरा आप ध्यान दीजिए—जब किसी को क्रोध आता है, तब क्रोध का प्रभाव सबसे पहले शरीर पर दिखलाई देता है। तभी सामने वाला व्यक्ति, उसे देखकर जान लेता है कि इसे क्रोध आ रहा है। जिस व्यक्ति को क्रोध नहीं आता है, उसका चेहरा सौम्य रहता है, उसके सौम्य चेहरे को देखकर सामने वाला व्यक्ति यह सहज ही अनुमान लगा लेता है कि इन्हें क्रोध नहीं आता है। यदि अपना चेहरा सदा सौम्य बनाए रखना है तो क्रोध का त्याग कर देना चाहिए।

क्रोध को कैसे छोड़ें ?

कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति क्रोध को छोड़ना चाहते हुए भी छोड़ नहीं पाता है। बहुत चाहता है कि क्रोध न करूं लेकिन जब सामने ऐसी कोई

परिस्थिति है तो वह क्रोध कर बैठता है। उस समय सब कुछ भूल जाता है। ऐसी परिस्थिति में क्रोध का छूटना सम्भव नहीं लगता, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जब क्रोध छोड़ने की भावना अन्तर-दिल से जग जाती है तो उस दिन क्रोध छूट ही जाता है। यदि आपको क्रोध आता है तो आप किसी को क्रोध में बेभान होकर कुछ भी बोल देते हैं तो आप यह निर्णय लीजिए कि जिस पर मुझे क्रोध आएगा, मैं उससे माफी मांग लूंगा। यदि आप अपने अभिमानवश इतना साहस न कर सकें तो उस दिन अपनी सर्वाधिक वस्तु का खाना छोड़ दीजिए। जैसे किसी को चाय अधिक प्रिय होती है, उसे पीए बिना काम नहीं चलता तो उस दिन के लिए चाय छोड़ दीजिए। जब-जब भी क्रोध आए चाय पीना छोड़ दें तो स्वतः ही क्रोध शांत हो जाएगा। यह एक प्रक्रिया है, क्रोध छोड़ने की। प्रवुद्ध व्यक्ति क्रोध से होने वाली हानियां और क्षमा से होने वाले लाभ को समझकर ही क्रोध को छोड़कर क्षमा धारण कर लेते हैं। क्रोध नहीं करने पर शरीर की पवित्रता, वुद्धि की स्वच्छता और जो सारभूत तत्त्व है, उसको पोषण मिलता है। क्रोध करने पर वे सारभूत तत्त्व विष में परिणत हो जाते हैं।

क्रोध का परिणाम : चण्डकोशिक सर्प

आप जानते ही होंगे- चण्डकौशिक सर्प को। चण्डकौशिक का जीव पूर्व भव में साधु रूप में था। साधना पथ पर चल रहा था किन्तु शिष्य के द्वारा बार-बार छेड़ने पर उसे गुस्सा आ गया और गुस्से में ही मृत्यु होने से उसका परिणाम आगे चलकर चण्डकौशिक सर्प के रूप में उभर कर आया। चण्डकौशिक सर्प का विकराल रूप, क्रोध की भयंकरता को वतला रहा था, जिसकी फुत्कार मात्र से चरिन्दे और परिन्दे भी कांपने लगे थे। पूरा जंगल सांय-सांय करने लगा था। मीलों तक आवागमन वंद हो चुका था। चण्डकौशिक का नाम सुनने मात्र से लोगों के मन में एक कंपकपी सी छूटने लगती थी।

ऐसे चण्डकौशिक सर्प को भी महाप्रभु ने अपने तप तेज के प्रभाव से शान्त वना दिया था।

एक क्रोधी को भी पूर्ण क्षमाशील वना देना—एक जादुई चमत्कार से कम नहीं था। यह जादू था—प्रभु महावीर के शान्त-प्रशान्त जीवन का। जादू से तात्पर्य कोई मन्त्र-तन्त्रों के प्रयोग से नहीं है अपितु महाप्रभु के क्षमाशील जीवन से है।

क्षमा का प्रभाव

जब महाप्रभु का विचरण छद्मस्थावस्था में हो रहा था, उस समय में गोशालक नामक एक व्यक्ति उनके साथ हो गया और महाप्रभु से कहने लगा— भगवन ! मैं आपका शिष्य बनूंगा। यह कहता हुआ वह भगवान के साथ ही रहने लगा। एक बार वन विहार करते हुए प्रभु महावीर पधार रहे थे। उस समय महाप्रभ् के विहार मार्ग पर वैश्यायन बालतपस्वी साधना कर रहा था। वैश्यायन बालतपस्वी के मस्तक से जुएं निकल-निकल कर जमीन पर गिर रही थीं। सूर्य के तेज से जुएं मर न जाए, इसलिए बाल तपस्वी उन्हें उठा-उठा कर पुनः मस्तक पर रख रहा था।

महाप्रभु तो युगप्रमाण भूमि को देखते हुए अपनी गति से आगे बढ़ गए, किन्तु महाप्रभु के पीछे आ रहे गोशालक से यह दृश्य देखा नहीं गया और वह बोल उठा—ए जुओं के श्य्यातर ! लेकिन बाल तपस्वी ने गोशालक की बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तब गोशालक ने दो-तीन बार इस वाक्य को दोहराया। बार-बार के इस कथन से बाल तपस्वी क्रोधित हो गया और उसने गोशालक को खत्म करने के लिए उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। इस प्रयोग से गोशालक बचाओ-बचाओ चिल्लाने लगा। महाप्रभु ने पीछे मुड़कर गोशालक को तेजोलेश्या से जलते देखा तो उन्होंने शीतल लेश्या से तेजोलेश्या को लौटा कर गोशालक की रक्षा की। महाप्रभु ने अपनी अप्रमत्त साधना के बीच अनुकम्पा का यह महान कार्य कर जनता के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया था। महाप्रभु की इस क्षमा साधना का ही यह प्रभाव था कि उनमें तेजोअग्नि को प्रशमित करने की शक्ति भी जागृत थी। जितना-जितना अन्तर में क्षमा का विस्तार होता जाता है, उतनी-उतनी शक्ति का अर्जन होता जाता है। जो शक्ति महाप्रभु को प्राप्त थी, ऐसी ही शक्ति भव्य मानवों को प्राप्त हो सकती है। आवश्यकता है क्रोध से हटकर क्षमा को जीवन में अपनाने की।

क्रोध को जीतने के कुछ उपाय

आप प्रातःकाल जब ब्रह्म मुहूर्त में उठें, तब यह दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि मैं गुस्सा-क्रोध नहीं करूंगा। चाहे कैसी भी परिस्थिति आवे, क्षमा भाव से विचलित नहीं होऊंगा। अपने आप ही क्रोध से कहिये—क्रोध ! तुम रुक क्यों नहीं जाते ? तुम्हारा आना मेरी आत्मा के लिए हितकर नहीं है। इस चिन्तन के साथ ही क्रोध का

समीक्षण करो। यह समीक्षण, इन चर्मचक्षुओं से नहीं हो सकता। इसके लिए अन्तर के नेत्रों की आवश्यकता है। जब अन्तःचक्षु में आप क्रोध का समीक्षण करने लगेंगे तो क्रोध दूर भागता हुआ नजर आएगा। शास्त्रकारों ने भी कहा है—'उवसमेण हणेकोहं' उपशम से क्रोध को शमित करो। यह उपशम भी समीक्षण से ही होगा। जिस प्रकार पूर्व दिशा में सूर्य उदित होता है और अंधकार भागता चला जाता है, उसी प्रकार क्रोध समीक्षण का तेज ज्यों-ज्यों अन्तरंग में फैलता हुआ चला जाता है, त्यों-त्यों क्रोध का अंधकार समाप्त होता हुआ चला जाता है।

क्रोध को समाप्त करने के लिए इससे भी सरल उपाय है। जब-जब भी क्रोध आवे, उस समय तुरन्त आप मुंह में गर्म या धोवन पानी रख लें। उस पानी को न तो पेट में उतारें और न ही बाहर फैंके। जब आपका क्रोध समाप्त हो जाय तब उसका जो भी करना चाहें, स्वतन्त्र हैं। यह तो उन बच्चों एवं सामान्य व्यक्तियों के लिए उपाय है। परन्तु जो समझदार व्यक्ति हैं, वे तो क्रोध की हानि और क्षमा के गुणों को जानकर स्वतः विवेक से क्रोध के दुर्गणों से मुक्त हो सकते हैं। जब बुद्धिमान व्यक्ति यह समझ लेता है कि इस वस्तु में जहर है तो वह उस वस्तु को किसी भी कीमत पर खाने के लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि वह यह अच्छी तरह से जानता है कि इसके खाने से निश्चित ही मेरी मृत्यु हो जाएगी। क्रोध भी एक प्रकार का जहर ही है जिसके लिए वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग कर दिखाए हैं, जिनकी व्याख्या मैं पूर्व में कर ही चुका हूं। ऐसे क्रोध रूप जहर से बुद्धिमान व्यक्ति को सदा मुक्त रहना चाहिये।

क्रोध वह घातक शस्त्र है, जिसका प्रहार हमारी शारीरिक, मानसिक एवं कायिक सभी परिस्थितियों पर होता है। क्रोधी व्यक्ति कभी भी शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। ऐसे घातक प्रहार से अपने आपको बचाना है। भक्त भगवान से यही प्रार्थना करता है कि—

सच्चा भगत बन जाऊं, भगवान तुम्हारा अब मैं।

क्रोध निकट नहीं आने देऊं, शस्त्र अचूक क्षमा का लेऊं।

दूर ही मार भगाऊं, भगवान तुम्हारा अब मैं ....

हम भी अपने भीतर में विद्यमान परमात्म शक्ति को जागृत करने के लिए परम प्रभु से प्रार्थना करें और सत् पुरुषार्थ के बल से क्रोध को हटाने का प्रयास करें तो एक न एक दिन हमारी आतमा भी परमात्मा के समान हो सकेगी।

□

पराधीन सपने हु सुख नांहि

- वस्तुओं की पराधीनता
- पर पदार्थों में सुख नहीं
- अनिर्वचनीय आनन्द निज का
- चक्रवर्ती के सुख से भी अधिक आध्यात्मिक सुख
- अभौतिक मुक्ति सुख कैसा ?
- जीवन के प्रति सतर्क बनें
- हिया फूटा कि जीवन डूबा

कुसग्गे जह ओस बिन्दुए,

थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।

एवं मणुयाणं जीवियं,

समयं गोयम मा पमायए ॥

उत्तराध्ययन सूत्र १०/२

कुश के अग्र भाग पर चमकने वाली ओस बिन्दु, कुछ समय तक चमक कर हवा के झोंके के साथ मिट्टी में मिल जाती है। उसी प्रकार मनुष्य जीवन है। अतः गौतम ! समय मात्र का प्रमाद मत कर।

मानव स्वाधीन रूप से अपने शरीर से परम शांति एवं परम सुख को प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसके लिए भौतिकता से अनुबन्धित तत्त्वों की आसक्ति को छोड़कर अध्यात्म की ओर सत् पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रवचन में पराधीन सुख से हटकर, स्वाधीन सुख पाने के लिए संकेत किया गया है।

प्रार्थना

धर्म जिनेश्वर, गाऊं रंग सूँ, भंग म पडशो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मन-मन्दिर आणु नहीं, ए अम कुलवट रीत, जिनेश्वर।
दौड़त दौड़त दौड़त दौड़ियो, जेती मननी रे दौड़ जिनेश्वर,
प्रेम प्रतीत विचारो ढूंकड़ी, गुरुगम लेजोरे जोड़ जिनेश्वर.... ॥

मनुष्य जीवन को सार्थक करने के लिए ज्ञानी जनों ने जो भव्य उपदेश दिया, धर्म का स्वरूप बताया, उस धर्म के स्वरूप को भी धर्मनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियों में जोड़ दिया गया है। ऐसे तो धर्मनाथ भगवान् की प्रार्थना पंद्रहवें भगवान की प्रार्थना है। परन्तु दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो सब भगवान् धर्मनाथ ही हैं। सभी तीर्थंकरों ने आत्मा के समग्र धर्मों को प्राप्त किया है। वे अपने स्वरूप को पहिचान कर पांच इन्द्रियों और मन पर पूर्ण नियन्त्रण पा चुके थे। उनके जीवन में धर्म का कोई स्वरूप अवशेष नहीं रहा। धर्म की जितनी किरणें हैं, उन सारी की सारी को कंट्रोल में ले ली। इस दृष्टि से वे धर्मनाथ कहलाये। इस प्रकार की आत्मसिद्धि सभी तीर्थंकरों ने प्राप्त की। इस दृष्टि से सभी को धर्मनाथ कह सकते हैं। ऐसे ही उनके मार्ग पर धर्म को अंगीकार करके चलने वाले भी आहिस्ता-आहिस्ता धर्मनाथ बन सकते हैं।

वस्तुओं की पराधीनता

उत्तराध्ययन सूत्र में सनाथ और अनाथ के वर्णन में कितनी गहरी बातें अनाथी मुनि ने सम्राट श्रेणिक को समझाईं कि गृहस्थाश्रम में रहने वाला, जो पुद्गलों के अधीन है, विकारों को अपने सिर पर चढ़ा कर चलता है—अर्थात् जिसका भौतिक विकास ही सब कुछ लक्ष्य है, वह अनाथ है। मनुष्य जीवन किस लिए है? कई व्यक्ति बोलते हैं कि मौज-शौक उड़ाने के लिए है। मौज-शौक उड़ाना, अच्छे सिनेमा देखना, फिल्मी गायन सुनना, राग-रंग की रंगरेलियों का अनुभव करना, लेकिन यह सब परतन्त्रता है। आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं है, और जहां परतन्त्रता है वहां सनाथता नहीं हो सकती। सम्राट को मुनिजी ने स्पष्ट कह दिया कि राजन्! तू स्वयं अनाथ है। क्योंकि तूने आत्मा और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने वाले धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा, केवल इस वैभाविक

राज्य को तूने सब कुछ समझ रखा है। तू परतन्त्र है, इसलिए अनाथ है। राजा श्रेणिक समझते थे कि वे सबके नाथ हैं।

कहिये ! आप लोग सनाथ हैं या अनाथ ? कौन जाने एक व्यक्ति कार में बैठकर आ रहा है ? कार को स्वयं चला रहा है और कार का स्वामी है। कार में बैठते समय वह अभिमान भले ही कर ले परन्तु कार को रखने की सुव्यवस्था करके ही वह मकान के अन्दर आ सकता है। कार की तरफ उसका मन लगा हुआ है। व्यक्ति घोड़े पर सवारी करता है, सैर करने को जाता है और वह कहता है कि मैं घोड़े का मालिक हूँ। परन्तु घोड़े को छोड़कर एकाएक कहीं नहीं जा सकता। क्योंकि वह घोड़े के अधीन है। वैसे ही कार को छोड़कर कार मालिक कहीं नहीं जा सकता, क्योंकि वह कार के अधीन है। इसी प्रकार स्कूटर हो, घड़ी हो, चश्मा हो, आभूषण हो, कोई भी वस्तु हो—आप उनको छोड़कर इधर-उधर नहीं हो सकते हैं तो आप उनके अधीन हैं और जिसके अधीन हैं वह आपका स्वामी है। जो अधीन हैं वह अनाथ है। यह आध्यात्मिक दृष्टि से गहरी बात है, परन्तु वस्तु सत्य है।

पर पदार्थों में सुख नहीं

कभी भाई पूछते हैं कि महाराज मोक्ष में क्या सुख है ? रात्रि में ही प्रश्न आया था। कह रहे थे क्या देखना है मोक्ष का सुख ? परन्तु मैं पूछता हूँ कि आपके पास क्या सुख है ? कहिये सुख पराधीनता में है या स्वाधीनता में ? कपड़ा ओढ़ने में सुख है ? मिठाई खाने में सुख है ? सुकोमल गादी तकियों पर सोने में सुख है ? आप कहेंगे नहीं। बात तो आप खरी-खरी बोलते हैं, परन्तु वैसा आचरण में नहीं लाते। एक व्यक्ति आंखों से सुख मिले इसलिए रूप देखता है और रूप है तो सुख मानता है। अहो ! यह रूप कितना सुन्दर है। परन्तु जब रूप हट गया, गायब हो गया तो रोएगा। तो वह पराधीन है या नहीं ? रेडियो में फिल्मी गायन सुन रहा है। जब तक गायन कानों में आ रहा है तब तक वह आनन्द मानता है किन्तु यह पर का आनन्द ले रहा है और जब पर हटा तब आनन्द भी नहीं आता। ऐसे ही भोजन पर है, अच्छी-अच्छी मिठाइयां जीमने में आनन्द मान रहा है। पेट भरकर मनुष्य भोजन कर ले और फिर उसके सामने बम्बई का सोहन हलुआ अथवा उसके मनोकूल अन्य सामग्री कोई लाकर रख दे और कहे कि जीमो सा ! अरोगो सा ! और सगे-सम्बन्धी मनवार करने लगें कि थोड़ा सा तो खाना ही पड़ेगा। वह

कहता है–साहब ! दुख मत दो। अरे ! जब खाने में सुख था तो दुःख कहां से आया ? आप एक-एक विषय को ले लीजिए। एक के छूट जाने पर दुःख और दूसरे के मिलने पर सुख का अनुभव करते हैं। यह पराधीनता का सुख है। यह सुख नहीं केवल सुखाभास है। कवि ने भी कहा है, 'पराधीन सपने हु सुख नांहि।' अर्थात् पराधीन व्यक्ति को सपने में भी सुख प्राप्त नहीं होता।

अनिवर्चनीय आनन्द निज का

जहां रूप देखने का, फिल्मी गानों के श्रवण करने का और स्वाद लेने का प्रसंग नहीं है और न ही स्पर्श करने की कोई चीज है, मन की कल्पना की भी कोई बात नहीं। वहां सब को छोड़कर जो आत्मा का आनन्द होता है, वह आनन्द अनिर्वचनीय होता है। वही सुख वास्तविक सुख है। जब पांचों इन्द्रियों का विषयजनित सुख पराधीन सुख है तो उसमें इतना क्यों मन लगाते हैं ? क्यों गृद्ध होते हैं ? मच्छीमार मछली पकड़ने के लिए कांटे पर आटे की गोली रखता है। मच्छी आटा खाने को आती है और ग्रहण करते समय सुख का अनुभव करती है, परन्तु कांटा जैसे ही उसके तालवे में चिपका नहीं कि फिर क्या होता है ? आप स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं। एक और उदाहरण लीजिए—शहद में लिपटी हुई तलवार है। शहद को चाटने के लिए मनुष्य जाता है और चाटता है, तो थोड़ा सा मिठास आया या नहीं परन्तु तलवार की धार उसको लगते ही बहुत समय तक रोता है। इसीलिए प्रभु का कहना है कि तुम स्वाधीन बनो, स्वावलंबी बनो। उन्होंने त्याग का मार्ग बतलाया। जितना त्याग के मार्ग पर चलोगे उतना ही वास्तविक सुख की ओर बढ़ोगे। वास्तविक सुख का अनुभव यहीं कर लोगे। सच्चा सुख वही है कि जितना मिले लो, उसी में आनन्द मनाओ तब आनन्द बढ़ता जाएगा। ऐसे आनन्द का अनुभव यदि वर्तमान जीवन में भी करना चाहो तो मिल सकता है। आप चाहते हैं कि इसे प्रत्यक्ष में जानें। भगवान् ने प्रत्यक्ष में ही बतलाया है। उन्होंने कहा है कि तुम वर्तमान में अनुभव करते जाओ कि मोक्ष के सुख का आनन्द कैसा है ? इस शरीर में रहते हुए कर लो, देख लो। और फिर शरीर को छोड़कर मोक्ष में जाओ। तुम को शरीर में रहते हुए यदि मोक्ष का आनन्द नहीं आया और शरीर छोड़ेंगे तब आनन्द आएगा, ऐसी बात नहीं है। इस मनुष्य शरीर में रहते हुये मोक्ष के सुख का आनन्द कर सदा-सदा के लिये मोक्ष में जाकर बैठ जाओ।

चक्रवर्ती के सुख से भी अधिक आध्यात्मिक सुख

आपको मालूम है कि तीर्थंकर जब तक गृहस्थाश्रम में रहते हैं, तब तक राजा के रूप में भी रहते हैं और कोई चक्रवर्ती के रूप में भी रहते हैं। शांतिनाथ और कुंथु भगवान तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे। उन्होंने छः खण्ड का राज्य भी पाया। भौतिकता की दृष्टि से चक्रवर्ती का सुख उत्कृष्ट दर्जे का है, परन्तु उन्होंने देखा कि यह वास्तविक सुख नहीं है तब वे उसका परित्याग करके, मोक्ष का सुख पाने के लिए चल पड़े—कहा है कि—

चइत्ता भारहं वासं. चक्कवट्टी महिड्ढिओ
संति-संति करे लोए, पत्तो गइ मणुत्तरं ॥

यदि चक्रवर्ती के सुख में सुख होता तो उस सुख को वे त्यागते नहीं बल्कि और बढ़ाने की चेष्टा करते, परन्तु वे उसे नाक के श्लेष्म की तरह त्याग कर चले गये। उन्होंने समझ लिया कि इसे त्यागे बिना वास्तविक सुख नहीं मिलेगा। कहावत है कि—एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जैन धर्म का मार्ग प्रत्यक्ष का मार्ग है—तीर्थंकरों ने राज्य का परित्याग किया और मोक्ष के सुख की तरफ बढ़े। केवल ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ केवल दर्शन, क्षायिक चरित्र और अनन्त वीर्य—ये चारों आत्मिक शक्तियां उन्होंने इसी मनुष्य शरीर में रहते हुए पालीं। उसी के बल से मोक्ष के सुख को देख भी लिया एवं अनुभव भी कर लिया। केवली, मनुष्य शरीर में उत्कृष्ट देसान करोड़ वर्ष पूर्व तक (करोड़ पूर्व से कुछ कम) रह सकते हैं। उतने समय तक मोक्ष के सुख को भी जानते-देखते हैं। फिर शरीर छोड़ कर मोक्ष के सुख का आनन्द सदा-सदा के लिये करते रहते हैं। मनुष्य यदि अपनी बुद्धि को जरा पैनी बनाए तो उसको वास्तविक सुख का पता चल सकता है।

अभौतिक मुक्ति सुख कैसा ?

आप कभी यह अनुभव कर पाये या नहीं कर पाये कि एक आदमी बोलते-बोलते, सुनते-सुनते अथवा देखते-देखते बहुत थक जाये और कल्पना करते-करते मन भी थक जाए, वैसी अवस्था में गरम-गरम खीर-पुड़ी खाने को, एवं सोने के लिए कोमल गादी तकिये और साथ ही पंखे की हवा मिल जाए तो कल्पना कीजिये उसे कितना आनन्द आएगा ? वह बहुत प्रगाढ़ निद्रा में सो जाएगा।

पता ही नहीं चलेगा कि वह कहाँ है ? और फिर जब वह उठे तो उसे पूछा जाये कि कहो ! कैसा रहा ? तो वह यह कहता हुआ पाया जाता है कि बहुत आनन्द रहा, लेकिन उसे यह पूछा जाय कि अरे भाई ! आनन्द किस बात का ? क्या सोये-सोये कोई गायन सुना ? प्रगाढ़ निद्रा में गायन भी नहीं सुनाई देता है। फिर पूछा कि रूप देखा ? तो कहा—नहीं देखा। क्या मिठाइयां खाई ? तो कहता है कि नहीं खाई। स्पर्श किया क्या ? कुछ भी नहीं किया। ता क्या स्वप्न देखा ? क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में स्वप्न आदि का प्रसंग नहीं रहता। अरे ! जब पांच इन्द्रियाँ और मन में कोई सुख नहीं पाया तो आनन्द का अनुभव किससे पाया ? और वह कहाँ से आया ? ये बाहरी विषय उसके साथ नहीं थे। वह सुख बाहरी विषयों के अधीन नहीं था, परन्तु जो आनन्द का अनुभव किया वह आनन्द के अनुभव की मात्र झलक थी। जैसे प्रगाढ़ निद्रा में वह आनन्द का अनुभव करता है वैसे ही जागृत अवस्था में कान सुनते हैं और आंखें देखती हैं। परन्तु उनके ऊपर नियंत्रण कर लें तो जीते जी आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इसीलिये कवि ने धर्मनाथ की प्रार्थना में कहा है—

दौड़त दौड़त दौड़त दौड़ियो, जेती मननी रे दौड़, जिनेश्वर........

हे भगवन् ! मैं दौड़ते-दौड़ते खूब दौड़ा कि मुझे सुख मिले। परन्तु क्या मिला ? आज का मानव भी खूब दौड़ रहा है कि इसमें सुख मिले। पर कवि कहता है कि मन इतना दौड़ा, इतना दौड़ा परन्तु सुख कहीं नहीं मिला। यदि सुख प्राप्त करना है तो बाह्य दौड़ बंद करो। समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर की दौड़ शुरू करो। तीर्थकरों ने छोटी-छोटी त्याग की बातें बताई नवकारसी करो, पौरसी करो, उपवास, पौषध करो, निंदा करने का त्याग करो, निंदा सुनने का त्याग करो, सिनेमा देखने का त्याग करो, गुस्सा नहीं करने का त्याग करो। त्याग ही त्याग बताए। त्याग-प्रत्याख्यान से मन को सही दिशा मिलती है और उससे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्ति होती है। अतः जितना जो सुप्रत्याख्यान कर रहे हैं। वे उतना अपने आपको मोक्ष की तरफ आगे बढ़ा रहे हैं।

जीवन के प्रति सतर्क बनें

अनाथी मुनि राजा श्रेणिक को कह रहे हैं कि जो त्याग करते हुए चलते हैं और साथ ही साथ पांच इंन्द्रियों के विषयों में आशक्त नहीं होते हैं वे एक न

दिन मोक्ष को पा लेते हैं। राजा श्रेणिक ने पूछा कि जिसने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया, मुनि बन गये, वे तो अब सनाथ हो गए? तो कहा राजन्! साधुपना ग्रहण करने मात्र से व्यक्ति सनाथ नहीं होता। संयम ग्रहण के पश्चात् शुद्ध श्रद्धा के साथ सोचे कि मैं तो छः काय जीवों का नाथ हूं। जिसका मैं नाथ बन गया हूँ, उसकी रक्षा करूं। छः काय हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय। मैं नाथ बन गया हूँ, तो मेरी प्रवृत्ति वैसी होनी चाहिए कि मेरे द्वारा छोटे से छोटे जीव की भी घात नहीं हो। पांच समिति, तीन गुप्ति का समयक् पालन हो। चलने, फिरने, बोलने तथा गवेषणा करने एवं भण्डोपकरण को व्यवस्थित करने में किसी जीव की विराधना न हो तथा परठने की दृष्टि से छोटे प्राणी की हिंसा नहीं हो। जो इस तरह से चलता है वह सनाथ है—वह मोक्ष की ओर जा रहा है। वह वास्तविक सुख की ओर जा रहा है। परन्तु साधुपणा लेने के बाद यदि लापरवाह बन जाता है कि इसमें क्या है? यह तो छोटी सी बात है, इसका क्या ध्यान रखना? तो बन्धुओ ध्यान रखिये। एक दिन छोटी सी चीज की लापरवाही बनेगी तो आगे चलकर बड़ी चीज की भी लापरवाही बन जायेगी। स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. फरमाते थे कि जो कौड़ी की लापरवाही करता है, वह एक दिन लाख रुपये भी खो देगा। जो आत्मा की तरफ बढ़ता है उसका अनुभव यही आता है। गांधीजी, साधु तो नहीं बने परन्तु अनुभवी थे। जब वे नोआखाली की तरफ जा रहे थे तो उनके साथ में एक पत्थर था, मैल उतारने का। एक स्थान से चले तो चलते-चलते तीन कोस का रास्ता पार हो गया। उस गांव में गांधीजी स्नान करने को बैठे तो रोजाना का पत्थर नहीं था। साथियों ने वैसा ही दूसरा पत्थर रख दिया। उन्होंने कहा कि यह मेरा साथी नहीं है। उन्होंने पूछा कि मेरा साथी कहां है? तो कहा हुजूर! यह है आपका साथी। गांधीजी ने कहा कि वह कहां है, जिससे मैं कई दिनों से मैल उतारता था? तब एक साथी ने कहा—वह तो पिछले गांव में भूल गये हैं इसलिए मैल उतारने में इस दूसरे पत्थर का उपयोग कर लीजिए। गांधीजी ने कहा—नहीं, मुझे मेरा साथी चाहिए। गांधीजी ने कहा—अच्छा भाई मैं जाता हूँ और मेरे साथी को लेकर आता हूँ। वे उठकर जाने लगे तो दूसरों ने कहा—आप कहां जा रहे हैं बापूजी? हम ले आयेंगे। एक व्यक्ति पैदल तीन कोस गया और वापिस आया और गांधीजी को वह पत्थर दिया, तब गांधीजी ने स्नान किया। यह बात सबके मन को अटपटी लगी। आखिर शाम को एक साथी ने सहमते हुये कहा—बापूजी पत्थर तो निर्जीव है और यह व्यक्ति सजीव है। इसको लाने के लिए बारह मील का चक्कर लगवा दिया आपने। यह पत्थर बड़ा है या यह व्यक्ति बड़ा है? इस पत्थर को तो कोई कष्ट नहीं हुआ परन्तु आपके साथी को कितना कष्ट हुआ?

तब गांधीजी ने कहा कि मेरा इस पत्थर से कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु इस साथी से मतलब है कि यह आज तो छोटी से छोटी चीज भूला और छोटी से छोटी चीज के लिए लापरवाही की, आगे चलकर न जानें यह कितनी बड़ी से बड़ी चीज को भूलने की भी लापरवाही कर देगा ? फिर मेरा साथी होकर, यह योग्य नहीं। इसलिए ज्ञानीजन कहते हैं कि मोक्ष का सुख पाना है तो यह मनुष्य तन ही है, और यह मनुष्य तन यदि लापरवाही से हाथ से निकल गया तो हाथ मल मलकर धोते और रोते रहेंगे तो भी जल्दी से हाथ में आने वाला नहीं है। अरे ! चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते यह शरीर मिला और इसको लापरवाही में गंवा दिया तो फिर क्या ? भगवान महावीर ने फरमाया है कि—

कुसग्गे जह औस बिंदुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाणं जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

हिया फूटा कि जीवन डूबा

पुराने जमाने में बहिनें पानी लेने जो जाती थीं। कुए से पानी खींचकर घड़ों में भर कर घड़े के ऊपर घड़ा सिर पर रखकर लाती थीं। दूर से आती थीं तो दो बहिनें साथ में चलतीं और बच्चा सामने आ जाता तो एक हाथ से उठाकर उसे भी गोदी में ले लेती थीं। बातें करने के साथ ही साथ कभी-कभी मजाक में आ गई तो हाथ से ताली भी लगा देतीं, पर घड़ों की तरफ ध्यान बराबर बना रहता। कदाचित ध्यान छोड़ दे और घड़ा फोड़ दे तो पहिले तो सासूजी उपालंभ दे देती कि हिया फूटी ! घड़ा फोड़ कर आ गई। जहां शादी-विवाह मे खाने में इतना खर्चा किया उसके समक्ष घड़े की क्या कीमत थी ? इतना सब खर्चा कर रही थी, परन्तु आज दो-चार आने का घड़ा फूट गया तो बहू को कह दिया हिया फूटी ! इसके पीछे भी रहस्य रहा हुआ है। क्योंकि हिया का अर्थ है मन और मन की जब एकाग्रता हटेगी तभी घड़ा फूटेगा। मन एकाग्र रहता है तब तक घड़ा नहीं फूटेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जो नाथ बनने की तैयारी में है, उनका ध्यान शुद्ध स्वरूप में, परमात्मा में लग जाना चाहिये। आप खाना खाइये, बैठिये, उठिये, चलिये, बोलिये परन्तु जैसे बहिन का ध्यान घड़े में रहता है, वैसे ही आपका ध्यान परमात्मा में लग जाता है तो कितना आनन्द आता है ? यह सहज योग की साधना ज्ञानियों ने बतलाई है। स्वयं भगवान महावीर ने कहा है—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयं मासे जयं सए ।
जयं भुजंतो भासंतो पावकम्मं नवंधइ ॥

ध्यान साधना जो भगवान ने बतलाई वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। परन्तु अफसोस है कि ध्यान साधना जिनको मिली है उनको पता ही नहीं है कि क्या मिली है? क्यों मिली है? बस, महाराज के पास आकर बैठ गए और [illegible] ध्यान में लिया कि महाराज का मन रह जाएगा। परन्तु सच्चे दिल से ध्यान कौन कर रहा है? यदि सच्चे दिल से चलें और ध्यान साधना हो तो, [illegible] इसमें मन लग जाये। परन्तु योग पद्धति का विषय जो सस्ता नहीं है कि इसको बिना मेहनत के मिल जाए, जिससे हम शांति का अनुभव कर [illegible] कोई लड्डू तो नहीं है कि मुंह में रखा और चट से गले के नीचे उतर गया। अपनी क्षमता हो जितनी करें। बेला, तेला नहीं हो तो नहीं करें। किन्तु [illegible] धार्मिक क्रिया करें उसे उपयोग पूर्वक करें। उपयोग पूर्वक की गई क्रिया [illegible] आनन्द आयेगा वह अन्यावस्था में आपको मिल नहीं सकता। उपयोग पूर्वक धार्मिक अनुष्ठान करते हुए मानव धर्म तत्व की गहराई में पहुँच सकता है और [illegible] भगवान के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

फल : भावों की शुद्धि-अशुद्धि का

- ☐ सुश्रद्धा एवं आत्म शक्तियां
- ☐ वैचारिक शक्ति से उत्थान और पतन
- ☐ पानी उतर जाना
- ☐ भाव बिगड़ा तो वचन भी बिगड़ा
- ☐ शंका का समाधान करो
- ☐ अशुद्धात्मा अनाराधक : शुद्धात्मा आराधक
- ☐ वृक्ष के साथ तुलना : आत्मभावों की
- ☐ माफी की याचना से शिशेष शुद्धि

जयं चरे जयं चिट्ठे जयं मासे जयं सए ।
जयं भुजंतो भासंतो पावकम्मं नवंधइ ।।

ध्यान साधना जो भगवान ने बतलाई वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। परन्तु अफसोस है कि ध्यान साधना जिनको मिली है उनको पता ही नहीं है कि क्या मिली है? क्यों मिली है? बस, महाराज के पास आकर बैठ गए और कोई न कोई त्याग ले लिया कि महाराज का मन रह जाएगा। परन्तु सच्चे दिल से त्याग कहां हो रहा है? यदि सच्चे दिल से चलें और ध्यान साधना हो तो, जो भी कार्य करें उसमें मन लग जाये। परन्तु योग पद्धति का विषय जो सस्ता चाहते हैं कि हमको बिना मेहनत के मिल जाए, जिससे हम शाँति का अनुभव कर लें, पर यह कोई लड्डू तो नहीं है कि मुंह में रखा और चट से गले के नीचे उतर गया। आपसे तपस्या हो जितनी करें। बेला, तेला नहीं हो तो नहीं करें। किन्तु जो भी धार्मिक क्रिया करें उसे उपयोग पूर्वक करें। उपयोग पूर्वक की गई क्रिया में जो आनन्द आयेगा वह अन्यावस्था में आपको मिल नहीं सकता। उपयोग पूर्वक धार्मिक अनुष्ठान करते हुए मानव धर्म तत्व की गहराई में पहुँच सकता है और एक न दिन धर्मनाथ भगवान के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

फल : भावों की शुद्धि-अशुद्धि का

- ☐ सुश्रद्धा एवं आत्म शक्तियां
- ☐ वैचारिक शक्ति से उत्थान और पतन
- ☐ पानी उतर जाना
- ☐ भाव बिगड़ा तो वचन भी बिगड़ा
- ☐ शंका का समाधान करो
- ☐ अशुद्धात्मा अनाराधक : शुद्धात्मा आराधक
- ☐ वृक्ष के साथ तुलना : आत्मभावों की
- ☐ माफी की याचना से शिशेष शुद्धि

क्षमा वीरस्य भूषणम्

क्षमा करना और क्षमा मांगना, ये दोनों वीरता के सूचक हैं।

भावों की विशुद्धि के साथ क्षमा मांगना अत्यन्त दु:साध्य है। अपरिचित से क्षमा मांगी जा सकती है, किन्तु परिचित और उसमें भी पारिवारिक सदस्य, जिसके साथ संघर्ष हुआ है, उससे हार्दिक क्षमायाचना, और भी मुश्किल है। किन्तु जब तक व्यक्ति क्षमायाचना करके मन की शुद्धि पूरी नहीं करता, तब तक आत्म शुद्धि नहीं हो सकती, आत्म शुद्धि के अभाव में परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे,

बंधुओ ! परमशांति की जिज्ञासु आत्मा, परमशांति के केन्द्र से ही आत्म निवेदन करती है।

अनन्तशांति और अनन्त सुख के स्वामी तीर्थंकर देव हो चुके हैं। वर्तमान में वे सब सिद्ध अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। भूतपूर्व के न्याय से तीर्थंकरों के नाम के पीछे स्तुति का प्रसंग है और यह प्रार्थना शांतिनाथ भगवान की है।

शांतिनाथ भगवान का नाम सुखप्रद प्रतीत होता है। जिनका परम शांति और परम सुख का स्वरूप जगत प्रसिद्ध है—उसी परम शांति को प्राप्त करने के लिए सच्चा जिज्ञासु शांति के परम स्वरूप को समझने की कोशिश करता है। शांति के परम स्वरूप जीवन का आखिरी छोर है—आत्मा की आखिरी मंजिल है—आध्यात्मिक जीवन का चरम विकास। जिस दिन उस मंजिल पर पहुँच जायेंगे, उसी रोज परम सुख, परम शांति मिल जाएगी। किन्तु इस मंजिल पर पहुँचने के लिए मजिल की ऊंचाई देखते हुए सीढ़ियों की आवश्यकता है।

सुश्रद्धा एवं आत्म शक्तियां

प्रथम सीढ़ी के रूप में है, जिनवाणी पर अटल श्रद्धा और विश्वास। जो जीव जिन सिद्धान्त पर श्रद्धा रखता है, भगवान् की अनिर्वचनीय सर्वशक्ति सम्पन्नता पर आस्था रखता है। वही सही मायने में भगवान् का भक्त कहला सकता है। भगवान् ने जिन उपदेशों को जनता के सामने रखा, उन उपदेशों में जिन तत्वों का प्रतिपादन किया, उन तत्वों के भावों को और भावों के सहारे तत्वों को समझने की आवश्यकता है। यद्यपि कविता की कड़ियों में भावों का उल्लेख हुआ है कि आत्मा, किसी न किसी भाव में अवश्य रहती है। भाव से तात्पर्य उसका परिणाम, उसका विचार है।

आत्मा, भावों से शून्य नहीं होती। यानि विचार शून्य नहीं बनती है। उसकी ज्ञान शक्ति और चिन्तन शक्ति किसी न किसी रूप में बनी रहती है। विचारों

में परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु भाव और विचार नष्ट नहीं होते। जिस रोज भाव और विचार नष्ट हो जायेंगे, उस रोज आत्मा आत्मा नहीं रहेगी।

सूर्य की किरणे सूर्य के साथ हैं। किरणें सूर्य से कभी विलग नहीं हो सकती। हां : किरणों में अन्तर आ सकता है। बहुत गहरा धुंआ हो जाय तो किरणें भी धुंधली-धुंधली दिखने लग जाती हैं और धूंवर छा जाए तो किरणें दिख भी नहीं पाती, परन्तु धुंए और धूंवर के नष्ट हो जाने पर किरणें पुनः जैसी हैं, वैसी हो जाती हैं, पूर्ववत् प्रकाश देने लगती हैं। वैसे ही आत्मा की शक्तियां किरणों के तुल्य है।

वैचारिक शक्ति से उत्थान और पतन

आत्मा के भाव और आत्मा के विचार, आत्मा की शक्ति है, वे किरणों के तुल्य ही हैं। विचारों में थोड़ी अशुद्धि आ सकती है, भावों में मलीनता आ सकती है, भावों में मलीनता और विचारों में अशुद्धि तभी आती है, जब अज्ञान अंधकार आत्मा की शक्तियों पर आच्छादित होता है। जिससे आत्मा कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाती है। फिर वह हिताहित का विचार नहीं रखता। वह अशुद्ध भावों में बह जाती है। चाहे वह कितना भी बड़ा आदमी क्यों न रहा हो, बड़ा पद जो उसको मिला, जनता के अन्दर जो बड़ापन आया है, वह उसके अच्छे विचारों और अच्छे भावों से आया है। परन्तु भावों में मलीनता आते ही विचार मलीन हो जाते है और उन विचारों को दबाया नहीं जा सकता। किसी न किसी दिन जनता में उसके विचार प्रकट होंगे ही और जिस दिन उसके विचार प्रकट हुए नहीं कि उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है।

पानी उतर जाना

मोती में कितनी कठिनता से चमक आती है? परन्तु मोती का रंग उतर जाने पर उसका मूल्य कम हो जाता है। नहीं के बराबर रह जाता है। यही स्थिति मनुष्य जीवन की है। रावण एक बड़ा राजा था। उसका प्रारम्भिक जीवन अच्छा था। भावना और विचार दोनों ठीक थे। परन्तु जब समय ने पलटा खाया और पवित्र आत्मा जनक दुलारी सीता के लिए रावण के विचारों में मलीनता आई। भावना बुरी हुई। तब परिणाम यही हुआ कि रावण, सारी दुनियां में बदनाम हो

गया। रावण को हुए काफी वर्ष हो चुके हैं; परन्तु दुनिया बुराई की दृष्टि से किसी का उदाहरण सामने रखती है, बुरे विचार और बुरी भावना के प्रतीक के रूप में कोई उदाहरण देती है तो रावण उसका प्रमुख केन्द्र बनता है। जहां शुद्ध भावना का रूपक रखा जाता है, मर्यादाओं का पालन का प्रश्न आता है तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम का नाम सामने आता है। परन्तु मर्यादाओं को तोड़ने वाला, भंजन करने वाला कोई है तो रावण सामने आता है; रावण की बढ़ी-चढ़ी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिली। उसका मुख्य कारण उसके जीवन में मलीनता आ जाना था, विचारों में परिवर्तन हो जाना था। विचारों की मलीनता रावण के अन्तिम समय में आई थी। अन्तिम भावना बिगड़ी तो रावण की आत्मा का भी अधःपतन हुआ।

भाव बिगड़ा तो वचन भी बिगड़ा

तीर्थंकर देवों ने नव तत्वों का स्वरूप बताया। इनमें जीव और अजीव तत्व मुख्य बताये और जीव-अजीव की पर्याय की दृष्टि से सात तत्व और सम्मिलित होते हैं। जीव और अजीव (कर्म पुद्गल) का जहां मिश्रण है, वही आत्मा के लिए अधःपतन का कारण है। आत्मा जब कर्मबंध करती है और मलीन विचारों के साथ चलती है तो भगवान् की भक्ति करने वाली नहीं बनती। उसको भगवान् का भक्त पक्के रूप में नहीं कहा जा सकता है। वह धर्मी पुरुष के रूप में होता हुआ भी नाम का धर्मी है; परन्तु काम की दृष्टि से उसका जीवन धर्मी नहीं हो सकता है। जो अपने मन पर नियन्त्रण नहीं रखता, भावनाओं को शुद्ध नहीं रखता और विचारों में अशुद्धि लाकर बिना नियन्त्रण के बोल देता है, अपशब्द बोल देता है पात्र और अपात्र नहीं देखता, महत्वपूर्ण अवस्था को नहीं देखता और मुंह से जैसा निकला वैसा बोल देता है तो उसकी भावना भी सही नहीं कही जा सकती है। यदि भावना सही नहीं है तो उसके द्वारा भगवान् की आज्ञा की आराधना भी नहीं हो सकती है।

शंका का समाधान करो

शास्त्र में उल्लेख है—गोतम स्वामी भगवान महावीर के प्रथम गणधर थे और प्रभु के चरणों में समर्पित होकर चल रहे थे। इधर महावीर की अवस्था का वे जैसा स्वरूप समझते थे, वैसे ही जनता की भावना का मूल्यांकन करते थे। समय-समय पर जनता की भावनाओं को लेकर भी प्रश्न रख दिया करते थे। आम जनता अपनी

भावनाओं को प्रगट नहीं कर सकती थी। हर एक में अपने मन की गुत्थी सुलझाने की शक्ति नहीं होती। मन में प्रश्न तो अवश्य पैदा होते हैं, मनुष्य विचार अवश्य करता रहता है, मस्तिष्क विचार शून्य नहीं होता है। इतना जरूर है कि विचार अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। जहां विचार है, चिन्तन है तो प्रश्न की उत्पत्ति भी अवश्य है, और प्रश्न पैदा होगा तो समाधान भी चाहेगा। प्रश्न का समाधान होकर सन्तुष्टि हो जाती है तो जीवन का विकास होता है; यदि प्रश्न का समाधान नहीं होता है, तब मन में घुटन सी पैदा हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति मानसिक रोग से ग्रसित हो जाता है। गौतम स्वामी बड़े मनोवैज्ञानिक चिकित्सक थे। जनमानस की भावना और प्रश्नों को लेकर, उन्हें प्रभु के चरणों में रख देते थे, और प्रभु सर्वज्ञ, सर्वदर्शिता के साथ उनके उत्तर समीचीनता के साथ देते थे ताकि कौन मलीन भावना वाला और कौन शुद्ध भावना वाला उपासक है ? इसका भी निर्णय हो जाया करता था।

अशुद्धात्मा अनाराधक-- शुद्धात्मा आराधक

गौतम स्वामी ने प्रश्न कर दिया कि भगवन् ! कौन आत्मा आपकी आज्ञा की आराधक होकर परम सुख और परम शांति के रास्ते पर बढ़ने वाली है ? और कौन सी आत्मा आपकी आज्ञा की विराधना करके परम शांति के रास्ते को छोड़कर परम अशांति के रास्ते पर बढ़ने वाली है ? तब प्रभु ने उत्तर दिया—हे गौतम ! शुभ विचार करती हुई आत्माएँ मोक्ष का अवस्थान ग्रहण करती हैं। इस दृष्टिकोण से चार तीर्थों का एक वर्गीकरण किया है। बन्धुओ ! भाव, शास्त्र के हैं —भाषा, मैं अपनी बोल रहा हूँ; आपको समझाने की दृष्टि से कि आपकी समझ में आ जाए ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहा हूँ। क्योंकि शास्त्र के मूल प्राकृत शब्दों को आप ध्यान में नहीं ले पायेंगे; इसलिए हिन्दी भाषा जिसे आप समझ सकें—ऐसे शब्दों का प्रयोग हो रहा है। चार तीर्थों का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जितने भी हैं—उन सब मनुष्यों में भावना की दृष्टि से वर्गीकरण होता है। जिन मनुष्यों की भावना सुविशुद्ध होकर परम सुख और परम शांति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए परिपूर्ण बनती है और परिपूर्ण भावना की शुद्धि के लिए संसार के प्रपंचों में होने वाली अशुद्धि का परित्याग करके, मोह और माया को छोड़कर रात और दिन सुविशुद्ध भावना में ही रमण करने वाली बनती है, वह आत्मा श्रमण—साधु रूप में उभरती हैं। इसमें कोई जाति, व्यक्ति, पार्टी का

प्रश्न नहीं है। जो भी पवित्र भावना लेकर चले–तद्‌योग्य गुणों से सम्पन्न हो, वह साधु बन सकता है। महिला वर्ग में वे माताएँ वैसी ही परिपूर्ण सुविशुद्ध भावना में चलती हैं तो वे साध्वी कहलाती हैं और जिनकी परिपूर्ण सुविशुद्ध बनने की तैयारी नहीं है—ऐसे स्त्री और पुरुष इस मार्ग पर विश्वास करके चल पड़ते हैं, वे संसारी कार्य करने के साथ ही साथ सुविशुद्ध भावना का ख्याल भी रखते हैं। जितनी शक्ति रहती है उतनी शक्ति से सुविशुद्ध भावना रखने की कोशिश करते हैं। परिपूर्ण महाव्रत अंगीकार नहीं कर पाते, परन्तु देश व्रत अंगीकार करके चलते हैं, वे श्रावक और श्राविका के नाम से पुकारे जाते हैं। हे गौतम! इन चार वर्गीकरणों में, चार तीर्थों में वे यद्यपि वर्गीकृत होकर चल रहे हैं, परम सुख और शान्ति के मार्ग को अपना रहे हैं तथापि वे मेरी आज्ञा की पूरी आधारना कर पायेंगे या नहीं अर्थात् इन भावनाओं में स्थिर रह पायेंगे या नहीं ? मैं जैसी भावना रख गया यदि वैसी भावना नहीं रख पाये और मलीनता का असर आया, कर्म के उदय से जीवन में कटुता आ गयी और वे एक दूसरे को कुछ बोल पड़े, चाहे साधु अपने नियन्त्रण को खो करके कुछ कटु शब्द कह दे, साध्वी किसी को अनुचित कह दे। गृहस्थ श्रावक और श्राविका जीवन में रहने वाले स्त्री–पुरुष साधु पर रोष करें, साध्वी को बुरा-भला कह दें, उन पर गुस्सा कर बैठें तो उसकी वाणी में मलीनता आती है। इस मलीनता की शारीरिक जीवन में परिणति हुए बिना नहीं रहती। हे गौतम! इन चार वर्गों में से चाहे साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका हों, वे यदि किसी के प्रति कटु व्यवहार कर गुजरेंगे और उनसे खमत खामणा नहीं करेंगे, अपनी कलुषित भावना की शुद्धि नहीं करेंगे तो विराधक होंगे। शान्ति के उपासक नहीं कहलायेंगे, वे मेरे सच्चे भक्त नहीं रहेंगे, किन्तु जो हृदय से दूसरे से खमत-खामणा कर लेते हैं, उनकी आराधना हो जाती हैं। वे फलते-फूलते हैं और परम शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

वृक्ष के साथ तुलना आत्मभावों की

इसको समझने के लिए वृक्ष का रूपक ले सकते हैं। समुद्र के तट पर देवदारु के वृक्ष घने होते हैं, अच्छे होते हैं, उनके पत्तों और फलों की स्थिति भी रमणीय होती है, वे समुद्र के तट पर खड़े हैं और चारों तरफ हवा चल रही है। चारों दिशाओं से जो वायु आती है, वह वृक्षों के लिए हितावह होती है, परन्तु समुद्र के पानी को छूती हुई आंधी–तूफान के रूप में जो हवा आती है, वह वृक्षों

के लिए घातक होती है। इस हवा से जो झपाटा लगता है, उसमें कई वृक्ष उखड़ जाते हैं। परिणामस्वरुप वे सूख जाते हैं और फल देने की स्थिति में नहीं रहते। परन्तु जिन वृक्षों की अवस्था मजबूत है, जो झंझावात का प्रहार होने पर भी उखड़ने की स्थिति में नहीं रहते वे उसको बर्दाश्त कर जाते हैं; वे वृक्ष फलते-फलते और रमणीय रहते हैं। ठीक वैसी ही स्थिति मनुष्यों की भी है।

माफी की याचना से विशेष शुद्धि

मनुष्य बुरी भावना से किसी को कटु शब्द कहता है, किसी के कलेजे को तोड़ देता है, हृदय के टुकड़े कर देता है, कदाचित् वैसे शब्द नहीं कहे, पर मर्मकारी शब्द बोलकर उसके मन को कुण्ठित कर देता है, कभी बुरे शब्दों से उसका तिरस्कार करता है और यह बात यदि चतुर्विध संघ में आती है, तो जिन साधकों का जीवन साधना में परिपक्व है, मजबूत है तो चाहे कोई तिरस्कार या अपमान करे, परन्तु उसका असर वे अपने ऊपर नहीं होने देते। वे समभाव के साथ शान्ति की उपासना में लगे रहते हैं, ऐसे साधक साधना में फलते-फूलते हैं, आध्यात्मिक रस के आनन्द को चखते हैं। जो ऐसे रस को नहीं लेता है, वह मुरझा जाता है, और वहां से गिरकर दुर्गति का मेहमान बन जाता है, साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविका का बिना आत्मशुद्धि के अभाव में—गिरना अवश्यम्भावी है। जो साधु-साध्वी कटु वचनों आदि के प्रयोग होने पर उससे माफी मांग लेते हैं कि मेरे द्वारा तुम्हारी भावना में कलुषितता आयी—उसकी माफी चाहता हूँ, यह माफी भी व्यंग्य भरे शब्दों में नहीं, परन्तु सरलता से हो तो वह आराधक बन जाता है। परन्तु ऐसी खमत-खामणा नहीं होकर उस खमत-खामणा में भी सौदेबाजी होती है, कि वह यह कहे तो मैं करूं। इस प्रकार की सौदेबाजी लेकर चलता है, तब वह वास्तव में भगवान् की आज्ञा की आराधना का सच्चा आराधक नहीं होता है। ऐसी स्थिति चाहे साधु-साध्वी के जीवन में हो, चाहे श्रावक-श्राविका में हो, वे अपने व्रतों के आराधक नहीं बन पाते। यह तो चार तीर्थों की बात हुई। परन्तु चारों तीर्थ के बाहर जो रहे हुए हैं, जो भगवान की भक्ति को नहीं समझते हैं, नास्तिक रूप में अकड़ कर बैठते हैं, कटु शब्द भी कह देते हैं, उन कटु शब्दों को सहन करते हैं तो आराधना होती है—विराधना नहीं होती है। यदि वहां पर भी गुस्से में आकर अनिर्मल शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, शत्रुता की मन में गांठ बंध जाती है,

उस विषय की अन्त तक भी आलोचना–प्रतिक्रमण कर शुद्धि नहीं हो पाती है तो आराधना नहीं सधती ।

कई बार ऐसे भी साधु–साध्वी पाए जाते हैं, जो आंतरिक वृत्ति का प्रसंग आए तब वहां तो सहन नहीं करते हैं, परन्तु जब चारों वर्ग से बाहर के व्यक्ति कोई कुछ कह देते हैं तब नम्र बन जाते हैं, सहन कर लेते हैं और अभिमान की परिधि में झूमते रहते हैं । ऐसे साधक आराधक स्वल्प और विराधक विशेष रहते हैं; क्योंकि बाहर में कदाचित् कोई प्रसंग आ जाए तो उनसे क्षमा याचना करना सरल है, परन्तु नजदीक में रहने वालों से क्षमा याचना करना कठिन है । जब जिन साधु–साध्वी को सावधानी दिलाई जाए उस समय उनका अहंकार जाग जाए और सोचे कि मुझ को चेताते हैं—और वे उत्तेजित हो जाते हैं और खमत-खामणा नहीं करते हैं तो वे आत्मधर्म की ज्यादा से ज्यादा विराधना करते हैं । इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं का प्रसंग है । घर के व्यक्तियों से खमत-खामणा नहीं होती है और बाहर के लोगों से हो जाती है, तो पूरी आराधना नहीं बनती; बल्कि विराधना ज्यादा होती है । यह तो मैं साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की बात कह रहा हूँ । परन्तु परिवार के रूप में ले लीजिए । परिवार में माता, पिता, पुत्र, भाई, पत्नी आदि होते हैं । माता से पुत्र का तिरस्कार हो सकता है, कभी पुत्र, माता–पिता का तिरस्कार कर सकता है, भाई-भाई का तिरस्कार कर देते हैं । छद्मस्थता के नाते अनर्गल बोल जाते हैं, गलती हो सकती है । ऐसी स्थिति बन सकती है पर सम्बन्धित व्यक्ति से माफी मांग लेना ही विशेषता है । जो पहिले जाकर खमत-खामणा करता है, वह आत्मशुद्धि विशेष करता है । कई बार ऐसा देखने में आता है कि जहां माता-पिता, पिता-पुत्र, भाई-भाई का प्रसंग हो, संवत्सरी भी आ जाए तो भी भाई-भाई से क्षमा-याचना नहीं करते, परिवार से नहीं करते, बाकी सारी दुनिया से कर लेते हैं । अतः स्पष्ट है कि नजदीक के व्यक्तियों से खमत-खामणा करना टेढी खीर है, किन्तु जो कर लेता है वह विशेष आत्मशुद्धि करता है । जैसा कि नीति का वाक्य है—'क्षमा वीरस्य भूषणम्' । क्षमा वीरों का आभूषण है । क्षमा करना और क्षमा मांगना, दोनों हार्दिक शुद्धि के प्रतीक हैं । ऐसा सच्चा वीर ही कर सकता है, कायर नहीं; ऐसा वीर ही मुक्तिगामी बन जाता है । जो अकड़बाज होकर चलता है, वह जिनवाणी का आराधक नहीं होता ।

गौतम स्वामी के माध्यम से आई इस शास्त्रीय चर्चा से सभी को अपने-अपने अन्तःकरण में विचार करना है । यदि आत्म शांति चाहते हैं तो किसी को भी कटु

वचन न कहें, किसी के साथ अनुचित व्यवहार न करें, अनुचित चिन्तन न करें। छद्मस्यतावश कुछ हो जाए तो उसका समीक्षण करें और संबंधित व्यक्ति से हृदय से शुद्धि के साथ क्षमा-याचना कर लें। भावों में सदा सुविशुद्धि बनाए रखें। जितनी विचार, उच्चार और आचार में समीक्षण की स्थिति बढ़ेगी, उतनी ही आत्म–शुद्धि प्रकर्ष बनेगी।

निर्बल शरीर से चेतना का प्रचण्ड विकास

- कच्ची मिट्टी की तरह शरीर
- प्रार्थना किसलिए हो ?
- अवकाश दें मस्तिष्क को
- रिक्त करें मस्तिष्क के घट को
- सामायिक में पौशाक परिवर्तन ही आवश्यक नहीं
- मन की सफाई के साथ सामायिक हो
- चन्द्रगुप्त–चाणक्य का प्रसंग
- जड़ों से उखाड़ो : वैकारिक कांटों को
- चेतना की प्रचण्ड क्षमता जगाएँ

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु, पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु, पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।।

—भगवती आराधना ७६०

सम्यक् विधि रूप विद्या के वल से जिस प्रकार भयानक पिशाच को वश में किया जा सकता है, वैसे ही सम्यक् ज्ञान और समीक्षण साधना के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है ।

परिपूर्ण रूप से मन को मानव जीवन के इस औदारिक-शरीर में रहकर ही वश में किया जा सकता है । औदारिक शरीर में रहकर आत्म-साधना के वल से मनमस्तिष्क के कचरे को साफ कर आत्मिक चेतना जगाना आवश्यक है ।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे॥
धन्य तू आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे।
धीरज मन धरी सांभलो, कहूं शांति प्रतिभास रे॥

वंधुओ! चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करती हुई आत्मा इस मनुष्य पर्याय को अंगीकार करके चल रही है। मनुष्य का शरीर वैसे कई दृष्टियों से कच्चा है; तथापि इस शरीर से ही परिपक्व साधना का प्रसंग आता है। अवस्था भी जब पक जाती है, तब उस अवस्था से व्यक्ति कोई नवीन चीज पैदा नहीं कर सकता है, खाली दैनिक कार्य कर सकता है; पर कच्ची अवस्था में वह जैसा चाहे कार्य कर सकता है।

कच्ची मिट्टी की तरह शरीर

कच्ची अवस्था से तात्पर्य एकदम शिशु अवस्था नहीं, अपितु उससे ऊपर की अवस्था है, जिस अवस्था में अपने हिताहित का विचार कर सकें। कच्ची मिट्टी अनेक कार्यों में काम आ सकती है और कुंभकार इस मिट्टी से इच्छानुसार छोटा-बड़ा घड़ा बना सकता है, कृषक इसी मिट्टी से गेहूँ की फसल, मक्का, बाजरा, ज्वार और चाहे तो गन्ने की फसल भी पैदा कर सकता है, परन्तु जो मिट्टी कुंभकार के यहाँ घड़ा बनकर पक्की हो गई, तो उस पक्की मिट्टी (घड़े) से अब कुछ भी निर्माण कार्य नहीं किया जा सकता। उसमें अब पानी भरने के अलावा कुछ भी कार्य नहीं लिया जा सकता, वैसे ही औदारिक शरीर वाले मनुष्यों के अन्दर के पुद्‌गलों की रचना एक दृष्टि से कच्ची है; परन्तु कभी-कभी मनुष्य सोचता है कि हमको देव शरीर क्यों नहीं मिला? उनका परिपक्व वैक्रिय शरीर होता है। उनके ऊपर कितनी ही आघात की स्थिति आ जाय पर वह खंडित नहीं

होता, नष्ट नहीं होता और यदि कोई हिस्सा अलग भी होता है, तो चट से जुड़ जाता है; परन्तु देव शरीर आपको नहीं मिला, तो कुदरती तौर से एक दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि देव शरीर में रही हुई आत्मा, आध्यात्मिक जीवन की विविध साधना नहीं कर सकती है। न तो वहां सामायिक-संवर हो सकता है, न दया और पौषध का प्रसंग आता है और न वह त्याग और पच्चक्खाण ले सकता है, परन्तु उनका जीवन बहुलता से पांचों इन्द्रियों के उपभोग करने में ही जाता है। मनुष्य का जीवन इस वैक्रिय शरीर की तुलना में कच्चा भले ही हो, परन्तु आत्मा के लिए बहुत बड़ा और शक्तिदायक है। यदि आत्मा विवेक के साथ अपनी शक्ति को संभाले और जीवन की विकास प्रक्रिया चालू कर दे, तो इस मनुष्य शरीर में रही हुई आत्मा अपना परम एवं अभीष्ट तत्त्व, परम शांति को सदा-सदा के लिए पा सकती है और इसी शरीर से भयंकर दुःख उपार्जन करने का कार्य भी कर सकती है। इसी शरीर से वह नरक का मेहमान भी बन सकती है। सीधी नरक में जाने वाली आत्मा भी देव योनि से नहीं आती। देव क्या चलकर सीधा नरक में जा सकता है? नहीं। नरक का जीव भी निकलकर सीधा देव रूप में नहीं जा सकता। देव योनि में जाना है तो मनुष्य, तिर्यंच से ही जाएगा। देव की आत्मा के कभी कदाचित् नरक का योग है, तो मनुष्य, तिर्यंच में होकर ही नरक में जाएगी; परन्तु मनुष्य शरीर की आत्मा सीधी देव में अथवा नरक में भी जा सकती है, पशु योनि और मनुष्य योनि में भी जा सकती है। इन सब कार्यों के बावजूद यदि वह अच्छा कार्य करे तो मोक्ष में भी पहुँच सकती है। ऐसी क्षमता इस कच्चे मनुष्य शरीर में है। अब इस कच्चे मनुष्य शरीर का क्या उपयोग करना है? क्या अन्य योनियों वाले जैसा कर रहे हैं वैसा ही करना है? यदि वैसा करते करते भौतिक सुखों की लालसा से शरीर का अपव्यय होता रहा तो, जब यह शरीर नष्ट हो जाएगा, तब पश्चाताप के अलावा कुछ भी मिलने वाला नहीं है। अतः इस जीवन को समझकर जितना अधिक आत्मा का विकास किया जा सके, कर लें; तभी आत्मा परम शांति को पा सकेगी।

प्रार्थना किसलिए हो?

आध्यात्मिक कवियों की प्रार्थना इसी परम शांति के लिए ही होती है। शांतिनाथ भगवान् की स्तुति के प्रसंग से कवि कह रहा है कि—

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे॥

हे भगवन! मैं इस मनुष्य शरीर से न देवलोक की रचना चाहता हूं, और न जीवन में कोई ऊंचा पद (राजकीय स्तर) ही चाहता हूं; न मैं वैभव चाहता हूँ, न आप से शांति की याचना करता हूं, न मैं और किसी आकांक्षा से आपकी स्तुति करता हूँ, सिर्फ मेरा निवेदन यह है कि वह शांति का स्वरूप मैं कैसे जानूं और मन का मैं कैसे परीक्षण करूँ? यह भावना जिस आत्मा के अन्दर पैदा हो जाती है, जिस आत्मा के अन्दर ऐसी भावना पैदा होती है उसे भगवान् मानो धन्यवाद देते हैं। इसी प्रसंग में कवि कहता है—

धन्य तू आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे।
धीरज मन धरी सांभलो, कहूँ शांति प्रतिभास रे॥

हे भव्य! सबसे पहिले तो मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि तुम्हारे मस्तिष्क में सच्ची शांति को पाने के लिए अवकाश मिल गया।

अवकाश दें मस्तिष्क को

अवकाश का मतलब समझें? जब बहुत लोग एकत्रित हो जाते हैं, तब कहते हैं—आकाश में विकास करो, तो बहुत भरे हुए स्थान में जहां विकास का प्रसंग होता है, उसमें अवकाश का अवसर मिलता है। भगवान का संकेत है—उस व्यक्ति को, जिसने शांति को समझने के लिए अपनी भावना व्यक्त की—अंतःकरणपूर्वक उसके मस्तिष्क में शांति का अवकाश मिला, इसलिये वह धन्यवाद का पात्र है। आप कहेंगे कि महाराज शांति का अवकाश, शांति की चाह तो सबको है। सभी मांगते हैं और सभी चाहते हैं, सबको धन्यवाद मिलेगा। नहीं, सबको नहीं मिलेगा। उसको ही मिलेगा जिसने मस्तिष्क के साथ हृदय में शांति को स्थान दे दिया। आप सब अपने-अपने मन में सोचिए कि आपके मस्तिष्क में शांति को प्रकट करने का स्थान है क्या?

बोलिए गांधीजी! अवकाश है क्या, स्थान है क्या, फुर्सत है क्या? गांधीजी—गुरुदेव! होना तो चाहिए, पर अवकाश मिला या नहीं? आपके मस्तिष्क में कौन

सी चीजें भरी हुई हैं ? ये बाहर के सारे पदार्थ जो दृष्टि में आ रहे हैं, वे सब आपके मस्तिष्क में लबालब भरे हुए हैं और यही कारण है कि जब आप भगवान का ध्यान, नवकार-मंत्र की माला, पंच परमेष्ठी को एकाग्रता से ध्याने की सोचते हैं, उस वक्त माला आपके हाथ में जरूर फिर रही होती है, जबान मुँह में घूम रही है और मन के सामने दूसरा ही पिक्चर चल रहा होता है। कभी तिजोरी, कभी घर के कार्य, कभी बच्चों के लड़ाई-झगड़े, कभी कोई वस्तु अथवा कभी किसी के लिए कोई उपाय सोचा जा रहा है। तब देखिए कि पंच परमेष्ठी या शांतिनाथ भगवान् के लिए कोई मस्तिष्क में स्थान है ? अवकाश ही कहां है ? कोई स्थान नहीं तो शांति कैसे ? क्या बिना स्थान के शांति प्रकट हो सकती है ? ये विचार, इस प्रकार की भावनाएँ मस्तिष्क में ठूस-ठूस कर भरी हुई हैं। एक भावना खाली होती है तो दूसरी भर जाती है। उसके आने का स्थान है कहीं ? आप देखेंगे कि किसी वस्तु को देखी नहीं कि झट से मस्तिष्क में लिया नहीं। आप आँखें बंद करके बैठे हैं और फौरन चित्र सामने आए नहीं। चारों तरफ से वस्तुएँ भर जाती हैं और ऐसी ठसाठस की स्थिति बन जाती है कि शांति को प्रवेश पाने का अवकाश ही नहीं मिलता।

रिक्त करें मस्तिष्क के घट को

उदाहरण के रूप में पानी भरने का घड़ा है और इसको बिना पानी का जब देखते हैं तो क्या मालूम होता है ? आपको यही मालूम होता है कि खाली घड़ा पड़ा हुआ है। आप इस खाली घड़े में पानी भरना चाहते हैं और उसको सीधा रखकर भरना चाहते हैं तो भर सकते हैं, परन्तु उसको उल्टा करके पानी में डुबो दिया जाए तो एक बूंद भी पानी उसमें नहीं आता। पानी उसमें क्यों नहीं आ रहा है ? आप देखेंगे कि उस घड़े में हवा ठूंस-ठूंस कर भरी हुई है, इसलिए पानी की एक बूंद को भी प्रवेश नहीं मिलता, परन्तु जब पानी भरना होगा तो हवा निकालनी होगी। हवा निकलेगी तभी पानी भरेगा। इसके लिए उसे टेढ़ा किया जाए तो हवा बाहर आ जाएगी। जब पानी भरेगा तब हवा नहीं रहेगी और हवा रहेगी तो पानी नहीं भरेगा। इसलिए पानी भरना है तो हवा निकालनी है। पानी भरते समय डब-डब की आवाज आती है। इससे सिद्ध होता है कि हवा निकल रही है। यह हवा आंखों से नहीं दिखती है। आंखों से नहीं दिखने वाली हवा स्पर्श से तो मालूम होती है और डब-डब की आवाज से भी मालूम होती है, परन्तु मस्तिष्क

में जो विचार भरे हुए हैं, वे मनुष्य को जल्दी से मालूम नहीं होते और उन्हें खाली करने की उसे फुर्सत भी नहीं। वे इन्हें छोड़ना भी नहीं चाहते हैं। इनके रहते हुए शांति आवे तो आओ। संपत्ति, धन, वैभव, परिवार के सारे के सारे विचार भरे रहें और इनके रहते हुए शांति को आना हो तो आ जाओ। हम स्थान नहीं देते। लेकिन ऐसी स्थिति में शांतिनाथ भगवान् को स्थान कैसे मिलेगा ?

सामायिक में पौशाक परिवतन ही ग्रावश्यक नहीं

अन्य विचारों से मस्तिष्क को खाली करने के लिए आप लोग सामायिक पोषधादि भी करते हैं। ये सब करना बहुत अच्छा है, पर विचार यह करना है कि इन सबके करने से हमारा मस्तिष्क वैभाविक विचारों से रिक्त बना या नहीं ? कहीं हम उसी स्टेज पर ही तो नहीं खड़े हैं, जिस पर पहले खड़े थे। यह जो दो घड़ी का अवकाश सामायिक करने को निकाला वह तो स्कूल में प्रवेश करने के समान है। विद्यार्थी स्कूल की पौशाक पहिनकर स्कूल में पहुँच जाए और वह निश्चय करले कि मैं तो बस हो गया एम. ए.। स्कूल में पौशाक पहिनकर चले जाना, घण्टों तक खेल खेलते रहना, अध्ययन नहीं करना और ऐसे ही सारी जिन्दगी तक जाता ही रहा तो उसकी क्या दशा बनेगी ? उस स्कूल का तो नियम है कि तीन वर्ष तक फेल हो गया तो फिर प्रवेश नहीं मिलेगा, परन्तु यह भगवान् की पाठशाला तो बहुत लम्बी-चौड़ी है। यहां न तो कोई परीक्षा लेने वाला है और न पास-फेल होने वाला है। अपने आप से भले ही सर्टिफिकेट ले लो। हमारी अंतरात्मा को ले वही ठीक है। हमारे जीवन में कुछ भी परिवर्तन आया या नहीं ? शांति को अवकाश मिला या नहीं ? हम इस मोह, माया से थोड़े से भी पीछे हट रहे हैं या नहीं ? हमारे परिवार वाले प्रेरणा दे रहे हैं कि पिताजी ! निकल जाओ और पुत्र के कहने से कुछ कर भी लेंगे, चौबीस घण्टे धर्म स्थान में बिता देंगे, भोजन भी वहीं मंगवा लेंगे। परन्तु वहाँ धर्म–ध्यान को मस्तिष्क में स्थान देंगे या नहीं ? यदि धर्म स्थान में शांति को स्थान नहीं मिला तो हमने आगे की परीक्षा नहीं दी, यह समझा जायगा।

मन की सफाई के साथ सामायिक हो

सामायिक में क्या-क्या करना चाहिए और क्या-क्या नहीं करना चाहिए ? इसकी जानकारी नहीं की। पुस्तक में देख लिया कि सामायिक में बत्तीस दोष टालने चाहिये, क्या उन्हें टाला है या नहीं ? कल्पना कीजिए कि टाल भी दिये परन्तु अड़तालीस मिनट में क्या कार्यक्रम किया ? क्या आयाम रखा ? और किस प्रक्रिया में बैठे ? यह बात अवश्य है कि मस्तिष्क की ठीक स्थिति समझे बिना वहां परम शांति को समझने का प्रयास भी नहीं होगा। मेरा कहना है कि यदि सामायिक में डब गये तो समय कहां निकला ? इसका फिर पता भी नहीं चलेगा। अतीत के चौबीस घण्टों के हिताहित का चिन्तन, उपयोग पूर्वक स्वाध्याय, समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया, श्वासानुसंधान आदि अनेक प्रक्रियाएँ हैं जिससे सामायिक का समय पूर्ण होते देर नहीं लगती, और इसी पद्धति से चलें तो शांति को अवकाश जरूर मिलेगा। परन्तु पहले मस्तिष्क में से दूसरे विचारों को निकालना होगा। जिस मकान में ठसाठस रुई भरी हुई है और उसमें आप सोना-चांदी रखना चाहते हो तो क्या करेंगे ? पहिले उसको साफ करोगे और फिर उसमें तिजौरी रखोगे। इसी तरह पहिले आप मस्तिष्क-रूपी मकान में अनादिकाल से जो कचरा भरता आ रहा है, उसको पहिले खाली कीजिए और आध्यात्मिक शक्ति से तिजोरी भरिए। उसी को सेफ रखेंगे, तभी आपके जीवन के लिए शांति का प्रसंग बनेगा। धन की सुरक्षा करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि मन की शांति को समझना कठिन है। साधारण व्यक्ति तो इसमें प्रवेश भी नहीं पा सकते हैं। प्रखर बुद्धि वाले भी चाहें कि सहसा आज के आज प्रवेश पा जायें तो वे भी नहीं पा सकते हैं। उनको भी निरन्तर अभ्यास करना होगा। मन को पिशाच की उपमा दी जाती है। जिस प्रकार पिशाच, भयानक होता है, तथापि विधिवत् मंत्र योग से वह मानव के वश में हो सकता है; उसी प्रकार मन-रूपी पिशाच भी सम्यक् ज्ञान के बल से, समीक्षण ध्यान साधना से मानव के वश में हो सकता है। जैसा कि किसी नीतिकार ने कहा है—

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु, पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदग पिसायं सुट्ठु, पउत्ता करेदि पुरिसवसं॥

—भगवती आराधना—७६०

मन रूप पिशाच के भीतर में रही हुई विकृतियों को निकालकर उसे शुभ भावों में नियोजित करना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य का प्रसंग

ऐतिहासिक घटना है। चन्द्रगुप्त मौर्य नन्द वंश राज्य के उत्तराधिकारी थे। अधिकारी होने के नाते उनके मस्तिष्क में अभिमान ज्यादा भरा हुआ था। उस अभिमान के मद में वे इतने झूमते रहते थे कि यदि कदाचित किसी के कार्य में कुछ विगाड़ हो गया और उसका हल्का सा उपालम्भ मिलता तो उनके अहंकार को करारी चोट होती और वे इस अहंकार से दुखित हो जाते। वे बड़े प्रतिभा सम्पन्न थे, बुद्धिशाली थे। वे एक दिन टहलने के लिए नदी के तट पर जा रहे थे तब उन्होंने एक विचित्र ब्राह्मण को देखा। वह ब्राह्मण काले रंग का था, परन्तु आकृति से गम्भीर था। चन्द्रगुप्त की दृष्टि उस पर लग गई। वे उसकी तरफ देखने लगे कि यह पुरुष क्या कर रहा है ? वह ब्राह्मण नदी के तट पर तीक्ष्ण डोरा जिसको डाभ कहते हैं—जिसका जरा सा झटका लग जाए तो खून निकल जाए, उसको जड़ से निकाल रहा है और उसकी जड़ में मट्ठा डाल रहा है। इस प्रकार उसकी प्रक्रिया को देखकर चन्द्रगुप्त से रहा नहीं गया और पूछा कि महाशय जी ! यह आप क्या कर रहे हो ? जो दुनिया के पीने का मट्ठा है, उसको आप डाभ की जड़ में क्यों डाल रहे हो ? यह क्या प्रक्रिया है ? आपकी आकृति से तो लग रहा है कि आप एक बड़े ब्राह्मण हैं, परन्तु कार्य आपका निबद्धि जैसा है। विप्र ने कहा—महाशय ! आप मुझे निर्बद्धि या बुद्धि वाला कुछ भी समझें, परन्तु मैं आपकी बुद्धि के अनुसार नहीं—मैं अपने चिन्तन के अनुसार अपनी अन्तरात्मा की साक्षी पर चलता हूँ। दुनिया मुझे किसी भी निगाह से देखे, चाहे मुझे बुद्धिमान या निर्बुद्धि वाला कहे या बुद्धू कहे तो भी मैं दुनियां की जवान की खूटी पर लटकने वाला नहीं हूँ। खूंटी पर कपड़े लटकाये जाते हैं, वे कपड़े जिधर हवा आती है, उधर चले जाते हैं लेकिन मैं वैसा नहीं हूँ।

मैं प्रतिदिन साधना करने की दृष्टि से इस नदी पर आता हूँ। प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में वड़ी शान्ति रहती है। मैंने अपना समय निर्धारित कर रखा है। मुझे इस घाट से उस घाट पर आने के लिए इसी घास पर से होकर जाना होता है। जब मैं आता हूँ तो मेरा ध्यान साधना की तरफ रहता हे। मेरे पैर घास पर पड़ते

हैं, परन्तु मुझे पता नहीं चलता है कि मैं पैर घास पर रख रहा हूँ, लेकिन वाद में जव मैं अपने शरीर की तरफ ख्याल करता हूँ तो मालूम होता है कि मेरे पैर खून से लथपथ हैं। कपड़े भी खून से भर गए हैं। आज ही नहीं रोजाना मैं खून से भर जाता हूँ और प्रतिदिन मुझे कपड़े धोने पड़ते हैं। तव मैंने सोचा कि ऐसी तीक्ष्ण घास को रास्ते से हटा देना चाहिये। इसे काट देना चाहिये ! परन्तु सोचा कि यह तो फिर बढ जाएगी। जव तक इसकी जड़ समाप्त नहीं होगी, तव तक ऊगती रहेगी। अतः इसे जड़ से ही उखाड़ दं। तदनुसार इसे जड़ से उखाड़ रहा हूँ और मट्ठा इसलिए डाल रहा हूँ कि यह सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाए। ऐसा करने से मेरा रास्ता अबाध गति से साफ हो जाएगा।

जव चन्द्रगुप्त ने यह वात सुनी तो वे अपने स्वयं की समस्या में उलझे हुए थे, सोचने लगे कि मेरे मन की स्थिति का थाह लेना दुष्कर है। जिसकी मैं आज तक थाह नहीं ले पाया, अव वह रास्ता मुझे मिल गया। अरे ! साधना के प्रति इस विप्र की कितनी निष्ठा, कितनी दृढ़ता, कितनी लगन है ? इसमें कैसी धुन है, किस प्रकार का श्रम है ? और किस प्रकार की दृढ़ संकल्प-शक्ति है ? यह साधना के लिए जाता है तो उसी धुन में जाता है। इसे शरीर तक का ध्यान नहीं रहता। ऐसा ही व्यक्ति मुझे अपनी समस्याओं से उभार सकेगा। वे विप्र के चरणों में बैठकर कहने लगे कि महात्मन् ! आपने कई रास्ते खोजे हैं और वाहरी रास्ते को साफ करने में इतनी लगन है कि जड़ में मट्ठा डाल रहे हो, तो कृपया आप मेरे जीवन को वदलने का भी कोई रास्ता है तो वतलाइये ? मेरे में अहंकार इतना भरा हुआ है कि इससे अशान्ति हो पाता हूँ और मैं तिलमिला जाता हूँ। इसका समाधान क्या है ? इसी विषयक लम्बा संवाद हुआ। आगे चलकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नाम से वे दोनों प्रसिद्ध हुए।

जड़ों से उखाड़ो : वैकारिक कांटों को

इस दृष्टांत से मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि विप्र चाणक्य ने अपने रास्ते को साफ करने के लिए जैसे जड़-मूल से उस घास को उखाड़ी, तव जाकर रास्ता साफ हुआ। परन्तु क्या इस आध्यात्मिक जीवन के लिए रास्ता पार करते समय वीच में कंटीली घास के तुल्य कोई मन के खिलाफ खाना तो नहीं आ

जाता है ? कंटीली घास के तुल्य राग-द्वेष की परिणतियां ऐसे कांटे हैं कि मनुष्य को कभी राग और कभी द्वेष से दवा लेते हैं। आगे नहीं वढ़ने देते। दृढ़ता के साथ मन के अन्दर बैठे हुए कांटे रूप, संसार के प्रपंचों को उखाड़कर फैंक दो तो अच्छा है तभी शान्ति मिल सकेगी। केवल शान्ति का नाम लेने से शान्ति मिलने वाली नहीं है। जब मन की एकाग्रता करके बैठोगे और अन्तःकरण में यह जिज्ञासा पैदा हो जाएगी कि मैं मन की गतिविधि को पहचानूं ? और जब इसको पहचानने की जिज्ञासा होगी तभी शान्ति का आभास होगा और मानो भगवान की तरफ से खुलकर धन्यवाद मिलेगा।

धन्य तू आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे

भाई धन्यवाद है कि तुमको शान्ति के लिए अवकाश मिला। परन्तु सबसे पहिले शान्ति को समझना और मन का परीक्षण करने का अवकाश यह है कि मन में धगस (तमन्ना) हो जाए ओर सन्त-सतियों से पूछें कि वह रास्ता कैसा है ? जिससे शान्ति मिल सके। ऐसे ग्राहक आने लगें तो सन्त-सतियें भी ऐसे माल को पैदा करने के लिए विशेष कोशिश करने लग जायेंगे।

चेतना की प्रचण्ड शक्ति जगाएं

व्यापारी अपनी दुकान पर वही माल ज्यादा खरीद कर लाकर भरता है कि जिस माल के खरीददार ज्यादा आते हैं। बढ़िया कपड़ा लेने वाले आयेंगे तो वह बढ़िया कपड़ा रखेगा। वही स्थिति इधर है कि आप भगवान महावीर की दुकान पर पहुँचें और पूछें कि हमको परम शान्ति और परम सुख का बढ़िया माल चाहिये। ऐसा करने पर ही आपको सही तथ्य प्राप्त हो सकेगा। यदि आप कहेंगे कि हमको यह नहीं चाहिए, हमको तो कहानी, चौपाई चाहिए, तो फिर हम भी वही देंगे। यही कारण है कि आज जैन धर्म, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और साइण्टिफिक होते हुए भी इसकी खोज करने वाले और समझाने वाले व्यक्तियों की बहुत कमी महसूस हो रही है। आप सभी तो खोज करेंगे या नहीं ? परन्तु सच्चे जिज्ञासु अवश्य खोज लेंगे।

हैं, परन्तु मुझे पता नहीं चलता है कि मैं पैर घास पर रख रहा हूँ, लेकिन बाद में जब मैं अपने शरीर की तरफ खयाल करता हूँ तो मालूम होता है कि मेरे पैर खून से लथपथ हैं। कपड़े भी खून से भर गए हैं। आज ही नहीं रोजाना मैं खून से भर जाता हूँ और प्रतिदिन मुझे कपड़े धोने पड़ते हैं। तब मैंने सोचा कि ऐसी तीक्ष्ण घास को रास्ते से हटा देना चाहिये। इसे काट देना चाहिये! परन्तु सोचा कि यह तो फिर बढ जाएगी। जब तक इसकी जड़ समाप्त नहीं होगी, तब तक ऊगती रहेगी। अतः इसे जड़ से ही उखाड़ दं। तदनुसार इसे जड़ मे उखाड़ रहा हूँ और मट्ठा इसलिए डाल रहा हूँ कि यह सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाए। ऐसा करने से मेरा रास्ता अबाध गति से साफ हो जाएगा।

जब चन्द्रगुप्त ने यह बात सुनी तो वे अपने स्वयं की समस्या में उलझे हुए थे, सोचने लगे कि मेरे मन की स्थिति का थाह लेना दुष्कर है। जिसकी मैं आज तक थाह नहीं ले पाया, अब वह रास्ता मुझे मिल गया। अरे! साधना के प्रति इस विप्र की कितनी निष्ठा, कितनी दृढ़ता, कितनी लगन है? इसमें कैसी धुन है, किस प्रकार का श्रम है? और किस प्रकार की दृढ़ संकल्प-शक्ति है? यह साधना के लिए जाता है तो उसी धुन में जाता है। इसे शरीर तक का ध्यान नहीं रहता। ऐसा ही व्यक्ति मुझे अपनी समस्याओं से उभार सकेगा। वे विप्र के चरणों में बैठकर कहने लगे कि महात्मन्! आपने कई रास्ते खोजे हैं और बाहरी रास्ते को साफ करने में इतनी लगन है कि जड़ में मट्ठा डाल रहे हो, तो कृपया आप मेरे जीवन को बदलते का भी कोई रास्ता है तो बतलाइये? मेरे में अहंकार इतना भरा हुआ है कि इससे अशान्ति ही पाता हूँ और मैं तिलमिला जाता हूँ। इसका समाधान क्या है? इसी विषयक लम्बा संवाद हुआ। आगे चलकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नाम से वे दोनों प्रसिद्ध हुए।

जड़ों से उखाड़ो : वैकारिक कांटों को

इस दृष्टांत से मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि विप्र चाणक्य ने अपने रास्ते को साफ करने के लिए जैसे जड़-मूल से उस घास को उखाड़ी, तब जाकर रास्ता साफ हुआ। परन्तु क्या इस आध्यात्मिक जीवन के लिए रास्ता पार करते समय बीच में कंटीली घास के तुल्य कोई मन के खिलाफ खाना तो नहीं आ

जाता है ? कंटीली घास के तुल्य राग-द्वेष की परिणतियां ऐसे कांटे हैं कि मनुष्य को कभी राग और कभी द्वेष से दवा लेते हैं। आगे नहीं वढ़ने देते। दृढ़ता के साथ मन के अन्दर वैंठे हुए कांटे रूप, संसार के प्रपंचों को उखाड़कर फैंक दो तो अच्छा है तभी शान्ति मिल सकेगी। केवल शान्ति का नाम लेने से शान्ति मिलने वाली नहीं है। जव मन की एकाग्रता करके वैंठोगे और अन्त:करण में यह जिज्ञासा पैदा हो जाएगी कि मैं मन की गतिविधि को पहचानूं ? और जव इसको पहचानने की जिज्ञासा होगी तभी शान्ति का आभास होगा और मानो भगवान की तरफ से खुलकर धन्यवाद मिलेगा।

धन्य तू आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे

भाई धन्यवाद है कि तुमको शान्ति के लिए अवकाश मिला। परन्तु सवसे पहिले शान्ति को समझना और मन का परीक्षण करने का अवकाश यह है कि मन में धगस (तमन्ना) हो जाए ओर सन्त-सतियों से पूछें कि वह रास्ता कैसा है ? जिससे शान्ति मिल सके। ऐसे ग्राहक आने लगें तो सन्त-सतियें भी ऐसे माल को पैदा करने के लिए विशेष कोशिश करने लग जायेंगे।

चेतना की प्रचण्ड शक्ति जगाएं

व्यापारी अपनी दुकान पर वही माल ज्यादा खरीद कर लाकर भरता है कि जिस माल के खरीददार ज्यादा आते हैं। वढ़िया कपड़ा लेने वाले आयेंगे तो वह वढ़िया कपड़ा रखेगा। वही स्थिति इधर है कि आप भगवान महावीर की दुकान पर पहुँचें और पूछें कि हमको परम शान्ति और परम सुख का वढ़िया माल चाहिये। ऐसा करने पर ही आपको सही तथ्य प्राप्त हो सकेगा। यदि आप कहेंगे कि हमको यह नहीं चाहिए, हमको तो कहानी, चौपाई चाहिए, तो फिर हम भी वही देंगे। यही कारण है कि आज जैन धर्म, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और साइण्टिफिक होते हुए भी इसकी खोज करने वाले और समझाने वाले व्यक्तियों की वहुत कमी महसूस हो रही है। आप सभी तो खोज करेंगे या नहीं ? परन्तु सच्चे जिज्ञासु अवश्य खोज लेंगे।

वर्तमान में विदेशी लोग खोजी बनते जा रहे हैं। वैज्ञानिक, विज्ञान की खोज तो कर रहे हैं सो तो कर ही रहे हैं, परन्तु अब आध्यात्मिक-विज्ञान की खोज करने को भी तैयार हो गए हैं। ऐसी स्थिति में वे आपसे कहेंगे कि आपने सारी जिन्दगी धर्म में बिताई है तो हमको बताइए कि आपने क्या प्राप्त किया है ? तब आप क्या जवाब देंगे ? यह विचारणीय है, जरा चिन्तन करिये। आपके पास बहुत बड़ी थाती है, थोड़ा अभ्यास करिये, इस कच्ची मिट्टी जैसे औदारिक शरीर में रहने वाली चेतना की प्रचण्ड क्षमता को जगाने का प्रयास कीजिए। चेतना की प्रचण्ड क्षमता का चरम विकास इस औदारिक शरीर से ही हो सकता है। वह औदारिक शरीर भी मानव का ही हो। जीवन के अमूल्य क्षण निरन्तर व्यतीत होते जा रहे हैं। कब किस समय यह शरीर विकीर्ण हो जाय ? **पंचत्व** को प्राप्त हो जाय कोई पता नहीं। जितना प्रयास और पुरुषार्थ कर सकें, उतना ही जीवन को सार्थक बना सकेंगे।

समीक्षण के साथ तपश्चरण हो

- विशुद्ध-अविशुद्ध-सुविशुद्ध
- भावों की विशुद्धि तपाग्नि में
- कर्मनिर्जरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?
- अवशेष तपों की संक्षिप्त मीमांसा
- देह निरासक्ति में हेतु : तप
- सुविशुद्धि के लिए विविध उपाय
- समीक्षण के साथ तपश्चरण हो

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेणं, सुज्झए कम्मअट्ठविहं॥

आचारांगनिर्युक्ति २८२।

आत्मशुद्धि के लिए, सुविशुद्ध भावों के साथ तपश्चरण महत्त्वपूर्ण है। सुविशुद्ध भावों की स्थिति समीक्षण साधना के बिना नहीं आ सकती है।

बारह प्रकार के तपश्चरण में से कोई भी तपश्चरण किया जाय, वह तपश्चरण जल से होने वाली वस्त्र शुद्धि की तरह आत्मशुद्धि कराने में तभी सार्थक, हो सकता है, जब विचारों में समीक्षणता आए। संप्रेक्षा के बिना मात्र प्रेक्षा आत्म-ध्यान में उपयोगी नहीं बनती।

कर्म निजरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?

एक दिन भाई सोहनलालजी लूणिया ने प्रश्न किया था कि बारह प्रकार के तपों में यह अनशन तप, जिसको बाह्य तप के अन्तर्गत गिना गया, उसका पहिले उल्लेख क्यों हुआ ? रात्रि के प्रश्नोत्तर के समय पर मैंने थोड़ा सा उत्तर तो दिया ही था, परन्तु आज जब तप का प्रकरण चल ही रहा है तो उसी प्रकरण के प्रसंग से कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रसंग है।

भावों की शुद्धि, अपेक्षा से शरीर के माध्यम से होती है। जिनके पास शरीर नहीं है, वे अपने भावों को विशुद्ध नहीं कर सकते हैं। शरीर तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के भी है। आर्य भूमि में रहने वाले मनुष्य पर्याय के रूप में भव्यात्मा के भी शरीर है परन्तु भव्य आत्मा ही आत्म-विशुद्धि कर सकती है। अभवि तो अविशुद्ध भावों में ही रहता है। जब कि शरीर आत्मशुद्धि का पहिला कारण है परन्तु शरीर आखिरी लक्ष्य नहीं है। शरीर साधना का माध्यम है। शरीर एक दृष्टि से आत्मा के छूटने के बाद जड़ हो जाता है, इसमें कुछ भी जीवत्व, सत्व नहीं रहता है, परन्तु जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है,
नक इस शरीर का भी बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि तीन योग हैं और तीनों के
आत्मा का अविशुद्ध भाव सही मायने में हट सकता है। पहिले शरीर का
लए आता है कि द्रव्यमान शरीर के बिना नहीं टिक सकता है और वाणी
ना नहीं रह सकती है, इसलिए शरीर आदि तप की दृष्टि से कारण
या बुद्धि में अशुद्धि आती है, मलीन भावना आती है तो भावों
—उसके दो कारण हैं। एक तो खान-पान की दृष्टि से, दूसरे
-पान की दृष्टि तो यह है कि मनुष्य रोजाना भोजन करता
नी क्यों न रखे परन्तु भोजन करने में कुछ गलती हो ही
ने पर आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का
जाता है तो बुद्धि जितना काम करना चाहिए उतना
ता है तो जी मचलने लगता है और कंपन से बुद्धि
ो दूसरी दृष्टि से लेता होगा। आयुर्वेद में तीन
रीर के आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त, शरीर में
नका भार शरीर वहन नहीं करता है। तब
ा पड़ता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ठीक

कर्म निजरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?

एक दिन भाई सोहनलालजी लूणिया ने प्रश्न किया था कि बारह प्रकार के तपों में यह अनशन तप, जिसको बाह्य तप के अन्तर्गत गिना गया, उसका पहिले उल्लेख क्यों हुआ ? रात्रि के प्रश्नोत्तर के समय पर मैंने थोड़ा सा उत्तर तो दिया ही था, परन्तु आज जब तप का प्रकरण चल ही रहा है तो उसी प्रकरण के प्रसंग से कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रसंग है।

भावों की शुद्धि, अपेक्षा से शरीर के माध्यम से होती है। जिनके पास शरीर नहीं है, वे अपने भावों को विशुद्ध नहीं कर सकते हैं। शरीर तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के भी है। आर्य भूमि में रहने वाले मनुष्य पर्याय के रूप में भव्यात्मा के भी शरीर है परन्तु भव्य आत्मा ही आत्म-विशुद्धि कर सकती है। अभवि तो अविशुद्ध भावों में ही रहता है। जब कि शरीर आत्मशुद्धि का पहिला कारण है परन्तु शरीर आखिरी लक्ष्य नहीं है। शरीर साधना का माध्यम है। शरीर एक दृष्टि से आत्मा के छूटने के बाद जड़ हो जाता है, इसमें कुछ भी जीवत्व, सत्व नहीं रहता है, परन्तु जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है, तब तक इस शरीर का भी बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि तीन योग हैं और तीनों के साधने पर आत्मा का अविशुद्ध भाव सही मायने में हट सकता है। पहिले शरीर का माध्यम इसलिए आता है कि द्रव्यमान शरीर के बिना नहीं टिक सकता है और वाणी भी शरीर के बिना नहीं रह सकती है, इसलिए शरीर आदि तप की दृष्टि से कारण है और जहां मन में या बुद्धि में अशुद्धि आती है, मलीन भावना आती है तो भावों के कारण नहीं आती है—उसके दो कारण हैं। एक तो खान-पान की दृष्टि से, दूसरे कर्मोदय के कारण। खान-पान की दृष्टि तो यह है कि मनुष्य रोजाना भोजन करता है, वह कितनी ही सावधानी क्यों न रखे परन्तु भोजन करने में कुछ गलती हो ही जाती है और गलती हो जाने पर आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का प्रकोप हो जाता है। वात बढ़ जाता है तो बुद्धि जितना काम करना चाहिए उतना काम नहीं करती। पित्त बढ़ जाता है तो जी मचलने लगता है और कफ से बुद्धि भारी बन जाती है। एलोपैथिक इसको दूसरी दृष्टि से लेता होगा। आयुर्वेद में तीन तत्व मुख्य रूप से माने गए हैं। तो शरीर के आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त, शरीर में जब अन्य तत्व एकत्रित हो जाते हैं तो उनका भार शरीर वहन नहीं करता है। तब बुद्धि को और मन को वह भार वहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ठीक

कर्म निजरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?

एक दिन भाई सोहनलालजी लूणिया ने प्रश्न किया था कि बारह प्रकार के तपों में यह अनशन तप, जिसको बाह्य तप के अन्तर्गत गिना गया, उसका पहिले उल्लेख क्यों हुआ ? रात्रि के प्रश्नोत्तर के समय पर मैंने थोड़ा सा उत्तर तो दिया ही था, परन्तु आज जब तप का प्रकरण चल ही रहा है तो उसी प्रकरण के प्रसंग से कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रसंग है।

भावों की शुद्धि, अपेक्षा से शरीर के माध्यम से होती है। जिनके पास शरीर नहीं है, वे अपने भावों को विशुद्ध नहीं कर सकते हैं। शरीर तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के भी है। आर्य भूमि में रहने वाले मनुष्य पर्याय के रूप में भव्यात्मा के भी शरीर है परन्तु भव्य आत्मा ही आत्म-विशुद्धि कर सकती है। अभवि तो अविशुद्ध भावों में ही रहता है। जब कि शरीर आत्मशुद्धि का पहिला कारण है परन्तु शरीर आखिरी लक्ष्य नहीं है। शरीर साधना का माध्यम है। शरीर एक दृष्टि से आत्मा के छूटने के बाद जड़ हो जाता है, इसमें कुछ भी जीवत्व, सत्व नहीं रहता है, परन्तु जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है, तब तक इस शरीर का भी बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि तीन योग हैं और तीनों के साधने पर आत्मा का अविशुद्ध भाव सही मायने में हट सकता है। पहिले शरीर का माध्यम इसलिए आता है कि द्रव्यमान शरीर के बिना नहीं टिक सकता है और वाणी भी शरीर के बिना नहीं रह सकती है, इसलिए शरीर आदि तप की दृष्टि से कारण है और जहां मन में या बुद्धि में अशुद्धि आती है; मलीन भावना आती है तो भावों के कारण नहीं आती है—उसके दो कारण हैं। एक तो खान-पान की दृष्टि से, दूसरे कर्मोदय के कारण। खान-पान की दृष्टि तो यह है कि मनुष्य रोजाना भोजन करता है, वह कितनी ही सावधानी क्यों न रखे परन्तु भोजन करने में कुछ गलती हो ही जाती है और गलती हो जाने पर आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का प्रकोप हो जाता है। वात बढ़ जाता है तो बुद्धि जितना काम करना चाहिए उतना काम नहीं करती। पित्त बढ़ जाता है तो जी मचलने लगता है और कपंन से बुद्धि भारी बन जाती है। एलोपैथिक इसको दूसरी दृष्टि से लेता होगा। आयुर्वेद में तीन तत्व मुख्य रूप से माने गए हैं। तो शरीर के आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त, शरीर में जब अन्य तत्व एकत्रित हो जाते हैं तो उनका भार शरीर वहन नहीं करता है। तब बुद्धि को और मन को वह भार वहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ठीक

कर्म निर्जरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?

एक दिन भाई सोहनलालजी लूणिया ने प्रश्न किया था कि बारह प्रकार के तपों में यह अनशन तप, जिसको बाह्य तप के अन्तर्गत गिना गया, उसका पहिले उल्लेख क्यों हुआ ? रात्रि के प्रश्नोत्तर के समय पर मैंने थोड़ा सा उत्तर तो दिया ही था, परन्तु आज जब तप का प्रकरण चल ही रहा है तो उसी प्रकरण के प्रसंग से कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रसंग है।

भावों की शुद्धि, अपेक्षा से शरीर के माध्यम से होती है। जिनके पास शरीर नहीं है, वे अपने भावों को विशुद्ध नहीं कर सकते हैं। शरीर तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के भी है। आर्य भूमि में रहने वाले मनुष्य पर्याय के रूप में भव्यात्मा के भी शरीर है परन्तु भव्य आत्मा ही आत्मविशुद्धि कर सकती है। अभवि तो अविशुद्ध भावों में ही रहता है। जब कि शरीर आत्मशुद्धि का पहिला कारण है परन्तु शरीर आखिरी लक्ष्य नहीं है। शरीर साधना का माध्यम है। शरीर एक दृष्टि से आत्मा के छूटने के बाद जड़ हो जाता है, इसमें कुछ भी जीवत्व, सत्व नहीं रहता है, परन्तु जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है, तब तक इस शरीर का भी बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि तीन योग हैं और तीनों के साधने पर आत्मा का अविशुद्ध भाव सही मायने में हट सकता है। पहिले शरीर का माध्यम इसलिए आता है कि द्रव्यमान शरीर के बिना नहीं टिक सकता है और वाणी भी शरीर के बिना नहीं रह सकती है, इसलिए शरीर आदि तप की दृष्टि से कारण है और जहां मन में या बुद्धि में अशुद्धि आती है, मलीन भावना आती है तो भावों के कारण नहीं आती है—उसके दो कारण हैं। एक तो खान-पान की दृष्टि से, दूसरे कर्मोदय के कारण। खान-पान की दृष्टि तो यह है कि मनुष्य रोजाना भोजन करता है, वह कितनी ही सावधानी क्यों न रखे परन्तु भोजन करने में कुछ गलती हो ही जाती है और गलती हो जाने पर आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का प्रकोप हो जाता है। वात बढ़ जाता है तो बुद्धि जितना काम करना चाहिए उतना काम नहीं करती। पित्त बढ़ जाता है तो जी मचलने लगता है और कपंन से बुद्धि भारी बन जाती है। एलोपैथिक इसको दूसरी दृष्टि से लेता होगा। आयुर्वेद में तीन तत्व मुख्य रूप से माने गए हैं। तो शरीर के आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त, शरीर में जब अन्य तत्व एकत्रित हो जाते हैं तो उनका भार शरीर वहन नहीं करता है। तब बुद्धि को और मन को वह भार वहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ठीक

कर्म निजरा का प्रथम हेतु अनशन क्यों ?

एक दिन भाई सोहनलालजी लूणिया ने प्रश्न किया था कि बारह प्रकार के तपों में यह अनशन तप, जिसको बाह्य तप के अन्तर्गत गिना गया, उसका पहिले उल्लेख क्यों हुआ ? रात्रि के प्रश्नोत्तर के समय पर मैंने थोड़ा सा उत्तर तो दिया ही था, परन्तु आज जब तप का प्रकरण चल ही रहा है तो उसी प्रकरण के प्रसंग से कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रसंग है।

भावों की शुद्धि, अपेक्षा से शरीर के माध्यम से होती है। जिनके पास शरीर नहीं है, वे अपने भावों को विशुद्ध नहीं कर सकते हैं। शरीर तो एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियों के भी है। आर्य भूमि में रहने वाले मनुष्य पर्याय के रूप में भव्यात्मा के भी शरीर है परन्तु भव्य आत्मा ही आत्मविशुद्धि कर सकती है। अभवि तो अविशुद्ध भावों में ही रहता है। जब कि शरीर आत्मशुद्धि का पहिला कारण है परन्तु शरीर आखिरी लक्ष्य नहीं है। शरीर साधना का माध्यम है। शरीर एक दृष्टि से आत्मा के छूटने के बाद जड़ हो जाता है, इसमें कुछ भी जीवत्व, सत्व नहीं रहता है, परन्तु जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है, तब तक इस शरीर का भी बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि तीन योग हैं और तीनों के साधने पर आत्मा का अविशुद्ध भाव सही मायने में हट सकता है। पहिले शरीर का माध्यम इसलिए आता है कि द्रव्यमान शरीर के बिना नहीं टिक सकता है और वाणी भी शरीर के बिना नहीं रह सकती है, इसलिए शरीर आदि तप की दृष्टि से कारण है और जहां मन में या बुद्धि में अशुद्धि आती है, मलीन भावना आती है तो भावों के कारण नहीं आती है—उसके दो कारण हैं। एक तो खान-पान की दृष्टि से, दूसरे कर्मोदय के कारण। खान-पान की दृष्टि तो यह है कि मनुष्य रोजाना भोजन करता है, वह कितनी ही सावधानी क्यों न रखे परन्तु भोजन करने में कुछ गलती हो ही जाती है और गलती हो जाने पर आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का प्रकोप हो जाता है। वात बढ़ जाता है तो बुद्धि जितना काम करना चाहिए उतना काम नहीं करती। पित्त बढ़ जाता है तो जी मचलने लगता है और कपंन से बुद्धि भारी बन जाती है। एलोपैथिक इसको दूसरी दृष्टि से लेता होगा। आयुर्वेद में तीन तत्व मुख्य रूप से माने गए हैं। तो शरीर के आवश्यक तत्वों के अतिरिक्त, शरीर में जब अन्य तत्व एकत्रित हो जाते हैं तो उनका भार शरीर वहन नहीं करता है। तब बुद्धि को और मन को वह भार वहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ठीक

देह निरासक्ति में हेतु : तप

मनुष्य का स्त्री, परिवार, धन और सम्पत्ति से मोह छूट सकता है, परन्तु शरीर से मोह जल्दी से नहीं छूट सकता है। शरीर से मोह छूटे बिना तपस्या नहीं हो सकती है। एक उपवास करने पर भी कितनी कल्पनाएं दौड़ती हैं? जो कोई खाने-पीने की चीज सामने दिखती है. तो मन विचलित हो जाता है, आहार संज्ञा जग जाती है। ऐसे समय उसे वश में करना, बहुत मुश्किल होता है। लेकिन जो सुविशुद्ध भावना के साथ मन का समीक्षण करता हुआ उसे वश में करता है वह विशेष तप करता है। अनशन के अन्तर्गत आने वाली दीर्घ तपश्चर्याएँ शरीर से मोह छूटे बिना नहीं हो सकतीं। शरीर से नहीं, भौतिक वस्तुओं से हटकर मन को आत्म-शुद्धि की ओर लगाना होता है।

सुविशुद्धि के लिए विविध उपाय

नवकारसी, पोरसी और दया करना भी कठिन है। मैं देखता हूं कि यहां के दलाल लोग प्रयत्न करते हैं, परन्तु आप लोग अपना नाम लिखाने में भी संकोच करते हैं और मुंह फेरकर निकल जाते हैं। यह भी इच्छा नहीं करते हैं कि हम चौबीस घंटे के लिए तो साधुवृत्ति में रहें। तब कहते हैं—रात-रात की छूट कर दी जाए फिर हो सकती है दया। लेकिन शास्त्र की दृष्टि से तो चौबीस घन्टे की दया होती है। दिन-दिन का संवर हो सकता है, उसमें भी तप होता है। अरे! जितनी-जितनी इच्छा को रोकोगे उतना-उतना तप होगा। देखिए! विद्वान् श्री राम मुनि जी ने प्रायः प्रतिलेखनादि सभी कार्य करते हुए ३१ की तपश्चर्या कर स्वयं की आत्मा-शुद्धि के साथ आप सबके सामने प्रेरणा का एक भव्य प्रसंग उपस्थित किया है। इससे आप सबको प्रेरणा लेनी चाहिए। आप उपवास आदि तप न कर सकें तो मैं आपको एक छोटा तप और बता दूं कि इकतीस दिन तक सिनेमा नहीं देखेंगे। यह भी तप है। गुस्सा नहीं करना भी तप है। यदि आपसे गुस्सा नहीं करने का तप नहीं बनता हो तो इकतीस दिन तक किसी को गाली नहीं देंगे, यह तप तो करें। बन्धुओ! मैं तो हाथ ऊँचे करवाना भी पसन्द नहीं करता हूं। परन्तु फिर भी कभी कुछ कह देता हूं। यह ख्याल रखिए कि कोई न कोई बड़ा-छोटा तप जरूर करिए।

भगवान महावीर की दुकान पर सब तरह का माल मौजूद है। जिसकी जैसी इच्छा हो ले सकता है। यह त्रिशला-नन्दन की दुकान है। चाहे एक हाथ कपड़ा

ही लें और इतना तो नियम रखें कि इस हाथ में अंगूठी रहेगी तब तक पच्चाखाण और जब कुछ लेना होगा तो हाथ की अंगुली में अंगूठी पहिन लूंगा। प्रभु ने कई प्रकार के तप बताए हैं। यदि आप तप करके चलेंगे तो आपकी भावना सुविशुद्ध बनेगी।

समीक्षण के साथ तपश्चरण हो

विचारों का समीक्षण करते हुए सुविशुद्ध भावना से किये जाने वाले तप से आत्मा की प्रकर्ष रूप से शुद्धि होती है। जो बाहरी रूप से कठोर तपश्चरण करने पर भी अन्तरंग जीवन का व्यवस्थित समीक्षण न कर सके, अन्तरंग में विषमता, क्रोध भरा रहे तो वह तपश्चरण आत्मा की शुद्धि कराने वाला नहीं बनता। आचारांग सूत्र की निर्युक्ति में तपश्चर्या से कर्मक्षय और आत्मशुद्धि बतलाई है, और आत्मशुद्धि द्वारा मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है, कहा गया है—

जह खलु मइलं वत्थं, उदगाइएहि दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेणं, सुज्झए कम्मअट्ठविहं॥

जिस प्रकार जल द्वारा मलिन वस्त्र स्वच्छ बना दिए जाते हैं, उसमें भी जल के साथ स्वच्छता के लिए क्षार पदार्थ की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार तपश्चरण रूप जल के साथ समीक्षण ध्यान रूप क्षार तत्व से कर्म की मलीमपता हटती है और आत्म-विशुद्धि होती है।

तपश्चरण के लिए भी भावों की सुविशुद्धि और दृष्टि में समीक्षणता आना आवश्यक है।

देह निरासक्ति में हेतु : तप

मनुष्य का स्त्री, परिवार, धन और सम्पत्ति से मोह छूट सकता है, परन्तु शरीर से मोह जल्दी से नहीं छूट सकता है। शरीर से मोह छूटे बिना तपस्या नहीं हो सकती है। एक उपवास करने पर भी कितनी कल्पनाएं दौड़ती हैं? जो कोई खाने-पीने की चीज सामने दिखती है, तो मन विचलित हो जाता है, आहार संज्ञा जग जाती है। ऐसे समय उसे वश में करना, बहुत मुश्किल होता है। लेकिन जो सुविशुद्ध भावना के साथ मन का समीक्षण करता हुआ उसे वश में करता है वह विशेष तप करता है। अनशन के अन्तर्गत आने वाली दीर्घ तपश्चर्याएँ शरीर से मोह छूटे बिना नहीं हो सकतीं। शरीर से नहीं, भौतिक वस्तुओं से हटकर मन को आत्म-शुद्धि की ओर लगाना होता है।

सुविशुद्धि के लिए विविध उपाय

नवकारसी, पौरसी और दया करना भी कठिन है। मैं देखता हूँ कि यहां के दलाल लोग प्रयत्न करते हैं, परन्तु आप लोग अपना नाम लिखाने में भी संकोच करते हैं और मुंह फेरकर निकल जाते हैं। यह भी इच्छा नहीं करते हैं कि हम चौबीस घंटे के लिए तो साधुवृत्ति में रहें। तब कहते हैं—रात-रात की छूट कर दी जाए फिर हो सकती है दया। लेकिन शास्त्र की दृष्टि से तो चौबीस घन्टे की दया होती है। दिन-दिन का संवर हो सकता है, उसमें भी तप होता है। अरे! जितनी-जितनी इच्छा को रोकोगे उतना-उतना तप होगा। देखिए! विद्वान् श्री राम मुनि जी ने प्रायः प्रतिलेखनादि सभी कार्य करते हुए ३१ की तपश्चर्या कर स्वयं की आत्मा-शुद्धि के साथ आप सबके सामने प्रेरणा का एक भव्य प्रसंग उपस्थित किया है। इससे आप सबको प्रेरणा लेनी चाहिए। आप उपवास आदि तप न कर सकें तो मैं आपको एक छोटा तप और बता दूं कि इकतीस दिन तक सिनेमा नहीं देखेंगे। यह भी तप है। गुस्सा नहीं करना भी तप है। यदि आपसे गुस्सा नहीं करने का तप नहीं बनता हो तो इकतीस दिन तक किसी को गाली नहीं देंगे, यह तप तो करें। बन्धुओ! मैं तो हाथ ऊँचे करवाना भी पसन्द नहीं करता हूँ। परन्तु फिर भी कभी कुछ कह देता हूं। यह ख्याल रखिए कि कोई न कोई बड़ा-छोटा तप जरूर करिए।

भगवान महावीर की दुकान पर सब तरह का माल मौजूद है। जिसकी जैसी इच्छा हो ले सकता है। यह त्रिशला-नन्दन की दुकान है। चाहे एक हाथ कपड़ा

ही लें और इतना तो नियम रखें कि इस हाथ में अंगूठी रहेगी तब तक पच्चाखाण और जब कुछ लेना होगा तो हाथ की अंगुली में अंगूठी पहिन लूंगा। प्रभु ने कई प्रकार के तप बताए हैं। यदि आप तप करके चलेंगे तो आपकी भावना सुविशुद्ध बनेगी।

समीक्षण के साथ तपश्चरण हो

विचारों का समीक्षण करते हुए सुविशुद्ध भावना से किये जाने वाले तप से आत्मा की प्रकर्ष रूप से शुद्धि होती है। जो बाहरी रूप से कठोर तपश्चरण करने पर भी अन्तरंग जीवन का व्यवस्थित समीक्षण न कर सके, अन्तरंग में विषमता, क्रोध भरा रहे तो वह तपश्चरण आत्मा की शुद्धि कराने वाला नहीं बनता। आचारांग सूत्र की निर्युक्ति में तपश्चर्या से कर्मक्षय और आत्मशुद्धि बतलाई है, और आत्मशुद्धि द्वारा मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है, कहा गया है—

जह खलु मइलं वत्थं, उदगाइएहि दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेणं, सुज्झए कम्मअट्ठविहं॥

जिस प्रकार जल द्वारा मलिन वस्त्र स्वच्छ बना दिए जाते हैं, उसमें भी जल के साथ स्वच्छता के लिए क्षार पदार्थ की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार तपश्चरण रूप जल के साथ समीक्षण ध्यान रूप क्षार तत्व से कर्म की मलीमपता हटती है और आत्म-विशुद्धि होती है।

तपश्चरण के लिए भी भावों की सुविशुद्धि और दृष्टि में समीक्षणता आना आवश्यक है।

रोग को दूर करो : समीक्षण से

- ☐ महाप्रभु की देशना और अनाथी अणगार
- ☐ जागरण अन्तःकरण से हो
- ☐ दुःख का कारण खोजें
- ☐ दुःख दूर कैसे करें ?
- ☐ कौनसी पुड़िया किसके लिए ?
- ☐ भीतर के रोग के लिए भीतर की दवा
- ☐ रोग को दूर करो : समीक्षण से

एगओ मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुत्तो ।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वसंजोग लक्खणा ॥

मेरी आत्मा एकाकी है, जो मूलतः परम ज्ञानदर्शन से संयुक्त है । शेष बाहरी भाव हैं, जो बाहरी संयोगों के परिणाम हैं । बाहरी संयोगों में राग-द्वेष ही व्यक्ति दुःखी बनता है । इस दुःख-द्वन्द्व को दूर करने के लिए मूलभूत उपा समीक्षण । जब आत्मा अन्तर की दृष्टि से समतापूर्वक ईक्षण करने लगेगी त भी अनाथी मुनि की तरह परम शांति का वरण कर सकेगी ।

बन्धुओ ! उत्तराध्ययन सूत्रगत बीसवें अध्ययन के अनाथी मुनिजी के प्रकरण में मुख्य रूप से विवेचन करने योग्य दो पात्र सामने आते हैं। एक अनाथी मुनि का और दूसरा मगध सम्राट राजा श्रेणिक का। एक पांचों इंद्रिय-विषयों के भोगी थे, तो दूसरे इन्द्रियों की विषयासक्ति से निरासक्त योगी थे। भोगी और योगी में अतीव उत्तम संवाद हुआ, जिसे शास्त्र में बहुत ही भावात्मक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। यह अन्तिम तीकरर्थं भगवान महावीर स्वामी ने 'अपुट्ठ वागरणा' के रूप में उपस्थित किया था। भगवती आदि अन्य सूत्रों में जो विवेचन आया है वह तो प्रश्न पूछने पर उत्तर के प्रसंग से प्रश्नोत्तरी के रूप में आया है। परन्तु उत्तराध्ययन की देशना, किसी व्यक्ति के प्रश्न का परिणाम नहीं है। अनन्त ज्ञानी प्रभु महावीर की भव्यों के प्रति अनन्त करुणा का परिणाम है। वे स्वयं तो कृतकृत्य हो चुके हैं। परन्तु जब प्रभु महावीर को केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त हो गया था, चार तीर्थं की स्थापना कर दी थी। गणधर आदि को भव्य संशोधन देकर दीक्षित कर दिया वैसे आदि करके बाद जब प्रभु अन्तिम क्षण मोक्ष पधारने की स्थिति में थे, उस वक्त बिना पूछे महाप्रभु ने जो उपदेश दिया, वह कितना महत्वपूर्ण है, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

किसी बड़े परिवार में रहने वाला मुखिया, जिसने संसार के अनेक तरह का अनुभव किया है। नैतिकता एवं प्रामाणिकता जिसके जीवन का अंग है। वह धार्मिक निष्ठापूर्वक अपने अन्तिम क्षणों में चलने लगे। उस व्यक्ति की अनुभूति कितनी क्या प्रखर होगी, इसका सही बोध तो ज्ञानीजन ही कर सकते हैं। ऐसा व्यक्ति परिवार वालों के बिना पूछे ही अपने जीवन के बहुमूल्य अनुभव सुनाएँ तो वे अनुभव उन परिवार वालों के लिए कितने महत्वपूर्ण होते हैं ? यह आप जानते ही हैं, लेकिन विचारने की बात यह है कि वह तो एक छोटे परिवार का मुखिया था, परन्तु प्रभु महावीर तो समग्र विश्व को आत्मवत् समझने वाले होने से पूरे विश्व के अग्रगण्य थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से उनका चिन्तन किया जाए तो त्रस और स्थावर, स्थूल और सूक्ष्म जितने भी प्राणी हैं—महा प्रभु उन सब प्राणियों को आत्मवत् समझकर चल रहे थे। इसलिए यह उनके लिए बहुत बड़ा परिवार था। उस परिवार के लिए अन्तिम समय में जो उपदेश उन्होंने दिया, वह कितना महत्वपूर्ण है मैं उसका पूरा रहस्य तो नहीं बता सकता हूं। परन्तु अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि ऐसा उपदेश कितना मंगलप्रद है। जनता के लिए कितना उत्थानकारी बन सकता है। यह सुज्ञ पुरुषों के लिए चिन्तनीय और मननीय विषय है।

महाप्रभु की देशना और अनाथी अणगार

भगवान महावीर की देशना अर्थ रूप से हुई थी। गणधरों ने उसे सूत्र रूप में ग्रन्थित किया था। यद्यपि कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन सूत्र के विषय में मतभेद रखते हैं, तथापि रिसर्च में अंततोगत्वा प्रमाणों की पुष्टि से यह सिद्ध हुआ कि अर्थ रूप से देशना महाप्रभु स्वयं की थी, और उसी प्रसंग से उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी, मुनि का प्रसंग आया है। उस अनाथी मुनि के प्रसंग से अनाथ और सनाथ का प्रसंग वर्णन बहुत ही भव्य तरीके से स्पष्ट हुआ है।

राजा श्रेणिक आध्यात्मिक दृष्टि से, जिन शासन की विधि से सर्वथा विपरीत था। वीतराग देव के सिद्धान्तों से वह अनभिज्ञ था। इधर अनाथी मुनि जो वीतराग देव की आज्ञा के अनुयायी, जिन शासन के प्रति अगाध निष्ठा वाले, स्वयं प्रखर साधना से वीतराग-दशा में पहुँचने वाले महामुनि थे।

जीवन का सुधार कैसे हो ?

जो उपदेश से, शास्त्र-वाचन से आत्म-बोध को प्राप्त करता है, उसके बोध में कभी कुछ अन्तर भी रह सकता है। क्योंकि पर के माध्यम से आया हुआ बोध कभी मस्तिष्क तक ही अटक सकता है और कभी अंतःकरण में भी प्रवेश पा सकता है। परन्तु अन्तःकरण से प्रस्फुटित होने वाला बोध जीवन को ओत-प्रोत किये बिना नहीं रहता। यह बात हर क्षेत्र में चिन्तनीय है। सुधार हो या बिगाड़। सुधार चाहे परिवार में हो, समाज में हो या राष्ट्र में हो और बिगाड़ चाहे कहीं हो, इनमें दो छोर होते हैं। जब उसका सुधार ऊपर से आता है तब वह व्यक्ति तक पहुँचता है। अर्थात् समूह से वायु-मण्डल बनकर व्यक्ति सुसंस्कारित बनता है और कभी-कभी यह व्यक्ति से प्रस्फुटित होकर ऊपर सामूहिक क्षेत्र में पहुँचता है। ये दो ही छोर हैं। अर्थात् व्यक्तियों का समूह समाज है। व्यक्ति-व्यक्ति यदि अपने जीवन को संशोधित कर देते हैं तो समाज का जीवन भव्य तरीके से संशोधित हो सकता है और समाज के संशोधित होने पर राष्ट्र में संशोधन हुए बिना नहीं रहता है, राष्ट्र में संशोधन हुआ तो विश्व में संशोधन होता है। यह स्वाभाविक है परन्तु कभी ऊपर की स्थिति का प्रसंग आता है तो व्यक्ति मिलकर सामूहिक रूप से किसी का चयन कर लेते हैं, प्रतिनिधि के रूप में ऊपर भेजकर और उस पर उत्तरदायित्व डालकर यह कह दें कि जन-

समुदाय के अन्दर सुधार लाना है, ऊपर के व्यक्ति, यदि वायु-मण्डल बनाएं तो सुधार का कार्य भी प्रारम्भ करें। वह कार्यक्रम जनता के ऊपरी लोगों को करने के लिए होते हैं, लेकिन राजनैतिक आदि क्षेत्रों में यह बहुत कम देखने को मिलता है। आम जनता की स्थिति का अनुभव करने वाले विरल ही होते हैं और उनमें भी अधिकांश नकल करने वाले होते हैं, अकल लगाने वाले कम होते हैं। नकल करने वाले सुधार करते हैं तो ऊपर से शुरू होता है। इस ऊपरी सुधार से जन-जीवन बहुत कम प्रभावित होता है, क्योंकि जब तक अन्तःकरण से सुधार न हो तो तब तक सही सुधार नहीं होता। दूसरी बात सुधारने वाले को पहले स्वयं को सुधरना होता है, तभी वह दूसरे के दिल तक पहुँच सकता है। भगवान महावीर ने भी पहले स्वयं को सुधारा था क्योंकि व्यक्ति–व्यक्ति के भीतर से उठने वाला जो संशोधन हैं, वह हुए बिना नहीं रहेगा। इस संशोधन में संशय की गुंजाइश कम है।

जागरण अन्तःकरण से हो

अनाथी मुनि ने ऊपर से उद्घोष नहीं पाया, अर्थात् संत समागम से, शास्त्र वाचना से नहीं जागे, परन्तु स्वयं के अन्तर-चिन्तन से जागे। ऊपर से सुनने वाले तो बहुत होते हैं परन्तु अधिकांश इस कान से सुनकर और दूसरे कान से निकाल देते हैं। उनकी, अन्तर को देखने की स्थिति कम रहती है। परन्तु विकट परिस्थिति में अन्दर से छूकर जो आवाज आती है. वह प्रभावित बनाने वाली होती है। अनाथी मुनि गृहस्थावस्था में जब रंगरेलियों में रम रहे थे। रंगरेलियों का मतलब आप समझ गए होंगे। भौतिक सुख-सामग्री की, उनके पास किसी भी प्रकार की कमी नहीं थी। प्रभूत ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हुए भी जब उनके अक्षि वेदना उत्पन्न हुई तो उसे दूर करने के लिए परिवार, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, वैद्य, हकीम, मन्त्र-तन्त्र कोई भी समर्थ नहीं हुए। एक अक्षि वेदना ने उनकी सारी रंग-रेलियों में विघ्न डाल दिया था। औदारिक पिण्डात्मक यह शरीर इतना नाजुक है कि यदि शरीर में एक कांटा भी चुभ जाय तो व्यक्ति का सारा ध्यान उस कांटे के दर्द की ओर ही केन्द्रित हो जाता है, अर्थात् एक कांटा भी उसके सारे भौतिक सुख में विघ्न डाल सकता है। यही अनाथी मुनि की अक्षि वेदना का हाल था। उन्होंने अपनी अनाथता का कारण बतलाते हुए सम्राट श्रेणिक से स्पष्ट कहा था। मगधाधिपति ! मेरे पास संपत्ति, परिवार आदि की कोई कमी नहीं थी। सब कुछ होते हुए भी कोई मेरी वेदना को शान्त नहीं

कर सका, इसीलिए मैंने इस अनाथ जीवन से हटकर, असार-संसार को छोड़कर परमसुखभूत सनाथ मुनिव्रत को स्वीकृत कर लिया है, तभी से चिन्तन के साथ मेरी वेदना भी शान्त हो गई और मैं प्रशान्तता का अनुभव कर रहा हूं।

दुःख का कारण खोजें

आज के युग में भी अधिकांश व्यक्ति दुःख के दावानल में झुलस रहे हैं। चिन्तन का विषय है कि व्यक्ति शांति का अनुभव क्यों नहीं कर पा रहा है? कौनसी झंझटे हैं? चिन्ताएँ हैं? कैसे मस्तिस्क में टैंशन हैं? कैसे बीमार पड़ा है? इसके कारण को भी खोजने की चेष्टा की जाए। आप व्यापार में तो गहराई से उतरने की चेष्टा करते हैं कि कहां कमाई होगी, कहां नुकसान होगा? तो जैसे उधर ध्यान रखते हैं वैसे ही इससे अधिक यह जीवन का व्यापार महत्वपूर्ण है। वह तो चन्द दिनों तक का व्यापार है और भले ही उसमें क्षणिक शांति का अनुभव करें। उससे वास्तविक शांति की अनुभूति कभी भी नहीं हो सकती। वास्तविक शांति के लिए जीवन सुधार की जो बातें बतला रहा हूं, उन्हें आप बारीकी से थोड़ी सी अवधानता रखकर सुनें।

आपके जीवन में शांति है या नहीं? यह तो आप सब अनुभव करते हैं। चाहे ऊपर से आप बढ़िया पौशाक पहिनकर आयें, ऊपर से मुस्करा रहे हों परन्तु अन्दर में आप स्वयं अनुभव कर रहे हैं कि हमारी स्थिति क्या है? अन्दर से हम कितने दुखित हो गए हैं, काले हो गए हैं। हमारा सत्व कहां चला गया है? यद्यपि कई विचारशील विचार करते भी हैं, परन्तु जिनको विचार नहीं है वे तो मशीन की तरह ही जी रहे हैं। विचारवान् चिन्तक व्यक्ति को सोचना चाहिये कि हमारे जीवन में जो अशांति, दुःख, द्वन्द्व है, उनके सुधार का रास्ता क्या है? सुधार दो तरह से आता है। यह विषय यहां प्रतिपादित किया गया। उसे समझने के लिए अनाथी मुनि का दृष्टान्त ले सकते हैं।

दुःख दूर कैसे करें?

अनाथी मुनि बहुत बड़े सेठ के लड़के थे। अपार धन इनके पिता के पास है। वैभव की दृष्टि से कोई कमी नहीं थी। वह भौतिकता की हिलोरें ले रहा था।

परन्तु जब शरीर में शूल की वेदना चली, तो उसकी वेदना से वे कितने संत्रस्त हो गए ? वे जिन पांचों इन्द्रियों के सम्बन्ध को अच्छा समझते थे, वह समग्र विष के समान हो गयीं। जिस तरुणी के पीछे वह अपने आपको भूल रहे थे, वही तरुणी उनके लिए शत्रु बन गई। शत्रु बनने का तात्पर्य है कि वह भी अच्छी नहीं लग रही थी। वे बेचैन हो गए। वहां पर उन्हें कोई भी वस्तु प्रिय नहीं लगने लगी। ऐसी स्थिति में उनके शुभ परिणामों ने ही उनकी वेदना शांत की। दुःखनाश का मूलभूत हेतु ही वही थे, किन्तु आज के युग में किसी के ऐसी वेदना हो जाय तो वे किन-किन के पास नहीं पहुँच जाते हैं ? जब डाक्टर-वैद्यों से इलाज नहीं होता है तो सोचते हैं कि इसे कहीं ग्रह, नक्षत्र तो नहीं लग गए हैं ? अर्थात् शनि का ग्रह तो नहीं लग गया है ? और कहीं भूत-प्रेत तो नहीं लग गया है ? इतनी शूल वेदना क्यों चल पड़ी ? परन्तु ये सब अन्धकार में भटकने की बातें हैं, बिना सोचे-समझे अन्धेरे में हाथ फैलाने सरीखी बात है कि कुछ मिल जाए, परन्तु मिले क्या ? ज्ञानीजन कहते हैं कि जहां दुख का मूल है वहां पहुँचो। जिस स्थल से दुःख की प्राप्ति हो रही है उस स्थल को संभालो। अरे! दुःख तो पेट में है और मरहमपट्टी लगाई जा रही है पीठ में। तो दुःख कैसे मिटेगा ?

कौनसी पुड़िया : किसके लिए ?

एक बड़ा सेठ वैद्यजी के पास पहुँचा। वह कहने लगा कि मैं बड़ा दुःखी हूँ। मेरे पेट में जलन हो रही है—जल रहा हूँ। आप औषधि दीजिए। अन्दर की जलन से ऊपर की चमड़ी भी जल रही है। वैद्यराजजी ने चार पुड़िया बनाईं। एक-एक रोग की दो पुड़िया देते हुए कहा कि दो पुड़िया शहद में मिलाकर अन्दर में ले लेना और इन दो पुड़ियों से लेप लगा लेना। सेठ दवा लेकर आ गया। उसने थोड़ी देर में क्या किया कि जो शहद में मिलाकर अन्दर में पुड़िया लेनी थी, उनको तो बाहर में लेप लगा दिया और जो ऊपर के लेप की पुड़िया थीं उन्हें अन्दर में ले ली। परिणाम क्या हुआ ? उल्टा हो गया। भीतर का और बाहर दोनों का दर्द और बढ़ गया। वैद्यजी के पास गया और कहने लगा कि मैं तो बहुत दुःखी हो गया। पूछा कि कैसे हो गया ? कौन से रंगवाली पुड़िया कैसे ली ? तो कहा कि लाल कागज वाली

पुड़िया तो मैंने पानी में घोलकर बाहर लगाई और भूरे कागज वाली पुड़िया अन्दर में ली। वैद्य जी ने कहा—तुमने भूल कर दी। वही स्थिति आज दुनियां की बन रही है। जो जीवन को सार्थक बनाने की पुड़िया है और भीतर में लेनी है, उसे तो बाहर में ले रहे हैं। और भीतर की पुड़िया को ऊपर लेपलाप कर रहे हैं। स्पष्टीकरण यह है कि चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म और मोक्ष को अन्दर से विकसित करना चाहिये। परन्तु धर्म और मोक्ष की ऊपर ही लीपापोती की जा रही है और अर्थ और काम जो ऊपर के लेप हैं, इनको अन्दर में घोले जा रहे हैं। इनको वह अतःकरण में स्थान दे रहा है। इनके लिए सारा जीवन समर्पित कर रहा है और धर्म और मोक्ष जो जीवन में आनन्द देने वाले हैं, इनका लेप बाहर कर रहा है। मूल की खोज में दुनियां नहीं पहुंच रही है।

भीतर के रोग के लिए भीतर की दवा

अनाथी मुनि को भी दवा दी गई और मंत्र, डोरा-डांडा सब कुछ किया होगा, परन्तु वेदना उपशांत नहीं हुई। तब अनाथी मुनि ने मूल में खोज की कि यह मेरी वेदना ऊपर की नहीं है, न किसी देवी-देवता से लगी है। यह रोग मेरी आत्मा ने उपार्जन किया है। और भीतर से प्रस्फुटित हुआ है। अतः इसका इलाज भी अन्दर से ही होगा। बाहर के इलाज का प्रयत्न किया हुआ बेकार ही जाता है। दृढ़ संकल्प किया तो वेदना चली जाती है और आराम से नींद आ जाती है। उन्होंने सोचा था कि प्रातः होते ही इन कर्मों के वृन्द को उड़ाने के लिए—"खंतो, दंतो निरारंभी पव्वइए अणगारिय," साधु बन जाऊंगा। बस यही दवा औषधि उन्होंने अन्दर में ले ली। यह औषधि जहां रोग था वहाँ पहुँची। रोग भीतर में था तो औषधि भी अन्दर से दी गई, और भीतर से सुधार हुआ, कर्मों का शमन हुआ। जैसे ही वे शयन करते हैं, वैसे ही रोग की निवृत्ति होती है, नींद आ जाती है। प्रगाढ़ निद्रा आ जाती है और सवेरे उठे तो प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए तत्पर हो गए। प्रतिज्ञा भी पूरी कर ली। क्या आज की दुनियां में भी रोग हैं? रोग तो बहुत हैं, पर उन्हें दूर करने के लिए सही इलाज की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जाता है। कभी ऐसा सोच भी लेते हैं कि यदि रोग ठीक हो गया तो यह करेंगे। लेकिन ठीक हो जाने पर प्रतिज्ञा कहां जाती है? हां! शमसानिया वैराग्य जरूर आ जाता

है। परन्तु अन्त:करणपूर्वक वैराग्य आना बड़ा कठिन है। यह नहीं जानते हैं कि यह मनुष्य का जीवन कितना अनमोल है। इसको ऊपर से कितनी ही लीपापोती की जाय पर भीतर में शांति मिलने वाली नहीं है। ऊपर कितने ही फूल चढ़ाएं जाएँ, उससे आत्मा को सुगन्ध मिलने वाली नहीं। उसके लिए भीतर के फूल की आवश्यकता है, तभी सुगन्ध विकसित होगी। वह सुगन्ध अनाथी मुनि को आई थी। परिवार के लोगों ने उन्हें वहुत समझाया, तव उन्होंने कहा—देखिए! हाथी के दांत बाहर निकलते नहीं हैं और निकलते हैं तो अन्दर में प्रवेश नहीं करते हैं। जब वाहर निकल चुके हैं तो क्या अन्दर में प्रवेश करेंगे? मैंने प्रण कर लिया सो कर लिया। दुनियां उलट जाए परन्तु मैं प्रण से नहीं उलट सकता हूं। मैं दुनियां को समझ गया हूं। ये सब दु:खप्रद हैं। मेरी आत्मा अज्ञानवश इनको ही सव कुछ मानकर चल रही थी। पर मुझे तो अव अन्दर की वेदना को मिटानी है।

वे चल पड़े पत्नी और परिवार को छोड़कर। सम्भव है उस समय भी लोग रोते होंगे कि अभी हमको छोड़कर कहां जा रहे हो? परन्तु उन्होंने समझ लिया कि क्या पत्नी, पिता-माता और सारा परिवार हमें छोडकर परलोक नहीं जाता है? और यहां बैठे-बैठे माता-पिताओं को भी शान्ति पहुँचा पाते है या नहीं? परन्तु साधपणा लेकर समग्र जीवों को शांति पहुँचायेंगे। इससे मैं अपनी आत्मा को भी शांति दूंगा। अनाथी मुनि चल पड़े साधना के महापथ पर, उनका जीवन सफल बना। मनुष्य जीवन का सर्वोत्कृष्ट सर्टिफिकेट किसको मिला? अनाथी मुनि को। आप भी सोचें कि मनुष्य जीवन तो मिल गया परन्तु सफलता कितनी मिली है? आप अपने-अपने अंत:करण से चिन्तन कीजिए। यदि सफलता पाना है तो यह मनुष्य जीवन है और अन्दर से दवा ली तो अन्दर से सुधार होगा और अगर ऊपर से ही लीपापोती करने का प्रयास किया तो कभी शांति मिलने वाली नहीं है। अनाथी मुनि की तरह दु:ख को दूर करने के लिए बाहरी चक्षुओं से नहीं, अन्तर के चक्षुओं से समीक्षण करना होगा।

रोग को दूर करो : समीक्षण से

समीक्षण के लिए अन्तरंग की भावोर्मियों से निम्न चिन्तन करें —

एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुत्तो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्व संजोग लक्खणा ।।

मेरी आत्मा एकाकी है, शाश्वत है, ज्ञान-दर्शन से संयुक्त है। शेष सभी बाहरी भाव हैं, जो संयोग के परिणाम हैं, मुझे उसमें नहीं उलझना है। मैं जितना-जितना बाहरी संजोगों में उलझूंगा उतना-उतना अधिक दुःखी बनूंगा। मुझे जन्म-जरा-मरण के दुःखों को अनादिकालीन भवपरम्परा को उच्छिन्न करने के लिए भीतरी औषध लेना है, वह है धर्म और मोक्ष की। उसके लिए दृष्टि को सम-समतामूलक बनाना होगा। जब दृष्टि में समता का उत्कृष्ट विकास होगा, उसी दिन चरम-विकास, परम शान्ति प्राप्त हो जाएगी।

भव्यात्मा : समीक्षण करें मन का

- ☐ भव्य-अभव्य कौन ?
- ☐ अभव्यत्व भी एक स्वभाव है
- ☐ भव्यादि का स्वरूप समझाइये
- ☐ शांति पाने के लिए श्रम करो
- ☐ शांति की सच्ची भूख जगाइये
- ☐ समझिये शांति के स्वरूप
- ☐ नासमझी का परिणाम
- ☐ मनरूपी पंखा
- ☐ मन का परीक्षण-समीक्षण करें

णिज्जावगो य णाणं, वादो झाणं चरित्तणावाहि,
भवसागरं तुभविया तरंति, तिहिसण्णिपायेण ।
मूलाचार–८९३

मोक्ष पाने के लिए भी योग्यता चाहिये–भव्यत्व की, जिसके बल पर आत्मा ज्ञान को सम्यक् बनाती है । समीक्षण ध्यान के माध्यम से मन को नियमित करती हुई आत्मा संसार-समुद्र को पार कर शांति के चरम छोर को छू लेती है ।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांत स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
धन्य तू आतम देवने, एहवो प्रश्न अवकाश रे,
धीरज मन धरी सांभलो, कहूँ शांति प्रति भास रे ॥

भव्य-अभव्य कौन ?

बन्धुओ ! भव्य और अभव्य दो प्रकार के प्राणी, तीर्थंकर देवों ने प्रतिपादित किए हैं। कई आत्माएं भव्य श्रेणी में हैं तो कई अभव्य में हैं। भव्य और अभव्य की भेद-रेखा इन जीवों के स्वभाव पर निर्भर है। जिन आत्माओं के मौलिक स्वभाव में दया भाव हो, जिनकी अंतरचेतना अपने वास्तविक स्वरूप को पा लेने के लिए छटपटाती हो, जिसके अन्तर मन में परम सुख और परम शांति पाने की तीव्र अभिलाषा हो, जिनकी बुद्धि में रह रहकर यह स्फुरणा होती हो कि इस मनुष्य जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि, क्या है ? और मैं इस श्रेष्ठ उपलब्धि को कैसे पाऊँ ? इस जीवन में जो कुछ सम्यक् करने योग्य हैं, उसे मैं कर लूं, इस प्रकार अन्तर की स्वतः स्फुरित वृत्तियां जिसमें जगती हों तो समझना चाहिये कि वह भव्य है। अभवी के मन में इस प्रकार के भाव नहीं जगते। अभवी की चेतना, स्व-स्वरूप की तरफ नहीं मुड़ती। उसकी विचारधाराएँ भाव से विपरीत रूप में भौतिक पदार्थों से आकर्षित रहती हैं और वह सोचता है कि मुझे संसार का वैभव मिला है, पांचों इन्द्रियां उपलब्ध हुई हैं। आंख, नाक, कान, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय इन पांचों इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय हैं। बढ़िया श्रवण करना, फिल्मी गाने, विकारी भाव के गाने गाना, चित्त को खींचने वाले रूपवान पदार्थों को देखना, इसी प्रकार की गंध की अभिलाषा करना, और उन्हीं विषयों को उत्तेजित करने वाले भोजन का आस्वाद लेना तथा वैसे ही स्पर्श की अनुभूति करना, इस प्रकार की वृत्ति जिन आत्मा में विद्यमान हों और अपनी इस वृत्ति के पोषण के लिए अन्य व्यक्तियों का उपमर्दन करना पड़े तो किया जाय, उनको ठगना पड़े तो ठगा जाय, उनके जीवन की समाप्ति करनी हो तो भी परवाह नहीं, लेकिन मुझे अपने भौतिक सुखों की उपलब्धि येन केन प्रकारेण प्राप्त हो। कितने ही करुणार्द्र, दुखी जीव सामने आयें, परन्तु जिसके अन्दर में उनके प्रति हमदर्दी, सहानुभूति नहीं जगे। शाश्वत सुख के

भाव जिनमें सदा-सदा के लिये विलीन हो गए हैं। शास्त्रीय शब्दों से कहें तो अनुकम्पा और आस्तिक्य भावना का जिनके जीवन में अभाव हो, तो ऐसी आत्माएं अभवी की श्रेणी में आती हैं।

अभव्यत्व भी एक स्वभाव है

यदा-कदा प्रश्न भी सामने आते हैं कि महाराज, भव्य और अभव्य की पहिचान क्या है ? जिस वक्त प्रश्नकर्ता जैसा प्रश्न सामने रखता है, उस वक्त उसी रूप में उत्तर दिया जाता है। पर आज मैं आपको कुछ विस्तृत उत्तर देने की स्थिति में बोल रहा हूं। भव्य और अभव्य की शास्त्रीय परम्परा से जो कुछ पहिचान कराई जाती है, उसे साधारण व्यक्तियों को समझाने के लिए अनाजों में से एक दाने का रूपक दे दिया जाता है। जिसको कि आप मारवाड़ी भाषा में कोरड़ा (कोरडु) समझते होंगे। एक दाना जो उड़द के बीच में, मूंग या मोठ के दानों के बीच में विद्यमान रहता है कि यदि उन उड़दों और मूंगों को उबाल दिए जाए तो सारे दाने उबल जायेंगे, आटे के सरीखे हो जायेंगे परन्तु एक दाना ऐसा रहता है कि जिसमें लोच भी नहीं आता लेकिन वह अखंड रूप से कैसे क्या रहता है ? इतनी गर्मी लगी फिर भी उसमें लचक नहीं आई। उस एक दाने को दस मन पानी में भी उबाल दिया जाय परन्तु वह दाना सीझेगा नहीं। क्योंकि यह पदार्थ का स्वभावहै। जहां सब उबल रहे हैं परन्तु वह कोरडु अन्यथा स्वभाव का होने से नहीं उबलता है। वैसे ही सभी आत्माओं में देख सकते हैं कि कई आत्माओं में इतनी जिज्ञासा होती है कि वे अपने आपके अन्दर पिघल जाते हैं, तो कई व्यक्तियों के समक्ष कितना ही सुन्दर भव्य प्रसंग आ जाए, तीर्थंकर देवों का एक वक्त नहीं अनेक वक्त सान्निध्य मिल जाये फिर भी उनके अन्दर यह भावना नहीं जागती कि मैं इस मनुष्य जीवन में आया हूँ तो वास्तविक सुख और शांति पा लूं। परन्तु वह तो इन अस्थायी सुख और सुविधाओं में लालायित रहता है। ऐसे अभव्यों की स्थिति का प्रसंग संसार में बहुतेरे व्यक्तियों का रहता है और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कभी-कभी ऐसे अभवी, जो भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए घर-बार का त्याग करके साधु भी बन जाते हैं, उनको यह ज्ञात होता है कि यह वीतराग देव की बताई हुई प्रक्रिया— पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति; इनका पालन करने से शास्त्रकार तो कहते हैं कि आत्म शुद्धि होकर पुण्यवानी भी बढ़ती है, तो मुझे आत्म शुद्धि नहीं चाहिए परन्तु पुण्यवानी चाहिए, जिससे अधिक से अधिक भौतिक सुख मिले। वह

साधु बन जाता है और साधु जीवन की करनी भी गौतम स्वामी के तुल्य कर डालता है। उसके परिणाम स्वरूप बारहवें देवलोक से ऊपर नवग्रेवेयक तक चला जाता है। इतना सब कुछ होने पर भी वह मिथ्यात्व की अवस्था से जरा भी नहीं खिसकता है। अर्थात् उसका प्रथम गुणस्थान बना रहता है। उसको आत्मा और परमात्मा पर विश्वास नहीं होता। उसको सिर्फ विश्वास होता है इन दृश्य पदार्थों पर, और उन्हीं के लिए वह जिन्दगी समर्पित करके चलता है। इसी के लिए उसको कितना ही कष्ट उठाना पड़े तो उठा लेता है परन्तु अपनी चेतना में कभी यह जिज्ञासा जागृत नहीं करता कि मुझे वास्तविक शांति का अनुभव हो। ऐसी अभव्य की स्थिति को देखकर ज्ञानी जन गहरे चिन्तन में उतर जाते हैं।

भव्यादि का स्वरूप समझाइए

जो भव्य होते हैं, उनमें भी एक जातिभवी, एक दुर्भवी और एक निकट भवी होती है। जातिभवी की विवेचना विशेषावश्यक भाष्य में मिलती है। जाति-भव्य के लिए बतलाया जाता है कि उसमें भव्यत्व जैसी योग्यता तो होती है, किन्तु उसे मुक्ति में जाने के लिए सत्पुरुषार्थ करने हेतु सुनहरा मौका कभी नहीं मिलता। दुर्भवी से तात्पर्य यह है कि जिसको अभी मोक्ष में जाने से पूर्व अनेकों भव करने अवशेष है। निकटभवी वह है जो शीघ्र मोक्षगामी होगा। इसे समझने के लिए एक व्यावहारिक रूपक लिया जा सकता है। जैसे चार बहिनें हैं, एक वन्ध्या, दूसरी विधवा, तीसरी अविवाहित कुमारी, चौथी विवाहित महिला। इन चारों में से पहली महिला के पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। अभव्य इसी के समान है, जिसमें मोक्ष जाने की योग्यता ही नहीं है। दूसरी महिला है विधवा, जिसमें पुत्रोत्पत्ति की योग्यता तो है, पर उसे ऐसा निमित्त मिलने वाला नहीं है। उसी प्रकार विधवा स्त्री की तरह जातिभव्य है, जिसे योग्यता होते हुए भी मोक्ष नहीं मिलता। तीसरी महिला अभी कुमारी है, जिसमें पुत्रोत्पत्ति की योग्यता तो है, किन्तु अभी बहुत विलम्ब है। वैसे ही दुर्भवी में मोक्ष में जाने की योग्यता है पर मोक्ष में जाने में बहुत विलम्ब है। चौथी नारी विवाहित है, जिसके शीघ्र ही पुत्र हो सकता है, वैसे ही निकटभवी जीव शीघ्र मोक्षगामी होते हैं।

शांति पाने के लिए श्रम करो

जहाँ निकट भव्य का प्रसंग आता है तो उसकी अन्तर-चेतना कितनी जिज्ञासावान बनती है और अन्दर की वास्तविक शांति की भूख कितनी उमड़ जाती है कि उसकी आत्मिक-आंतरिक जिज्ञासा वृत्ति को देखकर, भूख को देखकर तीर्थंकर देव उसका उत्तर देने को तैयार हो जाते हैं।

चौबीस तीर्थंकरों की प्रार्थना के प्रसंग से यथासम्भव कुछ नाम परिवर्तन के साथ स्थिति चल रही है। आज शांतिनाथ भगवान् की प्रार्थना के प्रसंग से कवि अपनी भावना व्यक्त कर रहा है कि—

शांति जिन एक मुझ बीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।

ऐसी भव्य आत्मा की अन्तर-चेतना पुकारती है कि हे शांतिनाथ भगवन ! ऐसे तो सभी तीर्थंकर उत्तम हैं। परन्तु मुझे आत्मिक और वास्तविक सुख, शांति चाहिए। इसलिए मैं नाम से शांतिनाथ भगवान् को सम्बोधन करूं कि हे शांतिनाथ भगवन् ! आपने शांति कैसे पाई ? जिससे आप सदा-सदा के लिए परमसुख और परमशांति में लीन हो गए। आपको अब त्रिकाल में कभी भी अशांति पाने का प्रसंग नहीं रहा। तो ऐसी शांति मैं भी चाहता हूँ। भगवन् ! मैं उस शांति के स्वरूप को कैसे पहिचानूं ?

बन्धुओ ! प्रार्थना के प्रसंग से सभी भक्तगण भगवान् से सीधी शांति की याचना भी करते हैं। परमात्मा की स्तुति गान, सेवा, भक्ति वे इसलिए करते हैं कि परमात्मा मुझे सीधी शांति बख्श दें। मनुष्य सब कुछ सीधा लेना चाहता है। श्रम करना कम पसन्द करता है। सीधी रसोई मिल जावे, कौन मेहनत करे ? ढाबे में रसोई मिल जाए तो क्यों चूल्हा जलाएं ? क्योंकि सीधी में मनुष्य अधिक आनन्द का अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि तुम शांति की प्राप्ति के लिए तो जा रहे हो परन्तु श्रम से बचने की चेष्टा करोगे तो उतने ही आलसी और प्रमादी बनोगे। उतने ही अपने जीवन की शांति से दूर हटोगे। तुम वास्तविक शांति को प्राप्त नहीं कर सकोगे। सीधी यदि कुबेर की सम्पत्ति भी मिल जाय तो वह भी चली जाएगी और हाथ मलते रह जाओगे। परन्तु जो पुरुषार्थ शक्ति है और तुम अपने भुजबल पर कुछ करना चाहते हो तो करो। उससे जो पैदा होगी—वह सदा-

सदा के लिए स्थायी हो जाएगी। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण जीवन का प्रसंग है। जहां अन्य विषयों में व्यक्ति परावलंबी और परतन्त्र होना चाहता है, उस आदत का परिचय वह धर्मस्थान पर भी देता है और भगवान के सामने भी उसी प्रकार की याचना करता है "शांतिनाथजी साता करो" या "शांतिनाथजी शाता दो"। तो क्यों मांगते हैं? मेरी भद्रिक माताएं और भद्रिक भाई—उनके मन में यही भावना रहती है कि परमात्मा शांति दे दे। परन्तु परमात्मा कहते हैं कि यह जो माँगने की भावना है वह वास्तविक शांति को जगाने वाली नहीं है। तुम इससे वास्तविक शांति नहीं पा सकोगे। तुम परतन्त्रता में जकड़ जाओगे। अपने जीवन का वह उज्ज्वल पक्ष प्राप्त नहीं कर सकोगे।

शांति की सच्ची भूख जगाइये

जो वास्तविक शान्ति चाहता है, वह मांगनी नहीं करता, याचना नहीं करता। वह तो स्वरूप की जानकारी चाहता है। जैसे कि कवि ने कहा है कि— 'शांति स्वरूप केम जाणिए'– भगवन्, मैं शांति की मांगनी नहीं करता हूं और आपकी शांति भी लेना नहीं चाहता हूं। परन्तु यह जानना चाहता हूं कि शांति का स्वरूप क्या है?

क्या जिज्ञासा है शांति के स्वरूप को समझने की? कौन जाने; बन्धुओ! आप अपने अंतःकरण से चिंतन करें कि हमारे मन में वास्तविक शांति की भूख जगी है या नहीं? अरे! अन्न की भी जब तीव्र भूख लगती है तो वैसी स्थिति में भले ही लूखी-सूखी खाएं तो भी शरीर की पुष्टि होगी। परन्तु वास्तविक भूख नहीं है फिर भी अगर खाता है तो इसलिए खाता है कि दिन में तीन बार खाना नहीं खाऊंगा तो यह शरीर दुर्बल हो जाएगा। इस दृष्टि से खाना खाता है और भूख की परवाह नहीं करता, वह व्यक्ति तन्दुरुस्त नहीं रह सकता और आफरा, अजीर्ण आदि अनेक रोगों का घर बन जाता है, जबकि जिसमें सच्ची भूख होती है और वहां थोड़ा भी अन्न मिलता है तो वह पच जाता है, वैसे ही शांति की सच्ची भूख, जिनको जगेगी वही शान्ति के स्वरूप को समझने की चेष्टा करेगा।

समझिये शांति के स्वरूप को

यदि कोई शांति का सच्चा मूर्त रूप लेकर आ जाए और मनुष्य को उसकी पहिचान नहीं है, तो क्या वह उसको अपना सकेगा ? नहीं ! कल्पना कीजिए कि आपके बीच शांति को देने वाला अद्वितीय रूप आ गया। परन्तु आप उसको पहिचानते नहीं हैं तो अद्वितीय रूप शांति का नहीं ले सकते हैं और वंचित रह जाते हैं। संकेत की दृष्टि से ज्ञानीजनों ने बहुत कुछ संकेत दिया है कि शांति चांहते हो तो दो बातों का ज्ञान करो। एक तो शांति का स्वरूप क्या है और दूसरा मन का सम्यक् परीक्षण कैसे हो ? कवि ने दोनों ही बातें रखी हैं। क्योंकि शांति की उपलब्धि मन के माध्यम से होती है। ऐसे तो शरीर मुख्य केन्द्र है ही। परन्तु सिर्फ शरीर से ही काम नहीं चलता है। शरीर तो इस वनस्पति में भी विद्यमान है। एकेन्द्रिय में भी शरीर है, दो, तीन, चार, पांच इन्द्रिय वालों में, असन्नी पंचिन्द्रिय में भी शरीर तो हैं, परन्तु मन रहित शरीर हैं। लेकिन जो संज्ञा, पंचेन्द्रिय में मनुष्य जीवन के साथ है और वहां भी आर्य क्षेत्र के अन्दर, समझने की योग्यता रखने वाला है, तो उस व्यक्ति को समझाने के लिए दो माध्यम प्राप्त हैं-- शरीर और मन। शरीर के भीतर में मन है और मन की स्थिति से मनुष्य हैरान है। कभी वह भगवान् का नाम लेने को बैठता है परन्तु वह ले नहीं पाता है। वह शांति की प्रार्थना करना चाहता है लेकिन इधर तो मुंह से शांति शव्द उच्चारित करता है और उधर मन कहीं भटक रहा होता है। तब न तो मन का समीक्षण होता है और न ही शांति के स्वरूप की परीक्षा ही हो पाती है। ज्ञानीजन कहते हैं कि जिसका तुमने समीक्षण नहीं किया उसे तुम प्राप्त भी कर लोगे तो धोखा खा जाओगे और बुरी तरह से पिछड़ जाओगे।

नासमझी का परिणाम

आज छुट्टी का प्रसंग है। मेरे भाई जो यहां कभी नहीं पहुँचते हैं उनके लिए शायद यह बात भारी नहीं बन जाए इसलिए मैं सरलता से एक उदाहरण के माध्यम से आपको समझा दूं।

दो अनन्य दोस्त विदेश में कमाने के लिए निकले और किसी गाँव में पहुँचे। वहां दोनों ने दो तरह के तरीके अपनाए। दो तरह के दृष्टिकोण थे। एक का तो

यह दृष्टिकोण था कि येन केन प्रकारेण संपत्ति कमाना है। नीति, अनीति, प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता कुछ नहीं देखना है। जो कुछ हो, परन्तु पैसा कमा लेना है और दूसरे का दृष्टिकोण यह था कि पैसा मुख्य नहीं है। मेरे जीवन के लिए धर्म और प्रतिष्ठा मुख्य है। मुझे कमाने में ईमानदारी रखनी है। जनजीवन में अच्छा व्यवहार हुआ और मेरा विश्वास जनता में बन गया तो मुझे संपत्ति तो मिल ही जाएगी, साथ में शांति को भी प्राप्त कर सकूंगा। लोगों का विश्वास नहीं बना तो मैं अपने आप में दुखी रहूंगा और दूसरों से भी डरता रहूंगा। मेरे लिए नैतिकता मुख्य है, ईमानदारी मुख्य है। ऐसी स्थिति में दोनों बाजार में व्यापार करने लगे। प्रथम व्यक्ति की, नीति के अनुसार बाजार में प्रतिष्ठा नहीं जमी। वह जिधर हाथ डालता उधर ही लोग उसे घृणा से देखते और निकाल देते। परन्तु दूसरा व्यक्ति व्यवसाय में प्रामाणिकता से रहने लगा। वह थोड़े ही दिनों में प्रतिष्ठित हो गया। लोगों के मुंह पर चढ़ गया। व्यापार भी जम गया। व्यवहार कुशल होने से लोग इज्जत देने लगे। शांति के क्षणों में जहां नगर में महात्मा होते तो वहाँ भी वह पहुँच जाता। आध्यात्मिक विषय में जिज्ञासा बढ़ती। क्योंकि शांति का स्वरूप जानने से ही शांति मिल सकती है। इस प्रकार दूसरा व्यक्ति प्रतिदिन वहां पहुँच जाता और जिज्ञासा से उनके प्रवचन श्रवण करता। थोड़े ही दिनों में वह मालदार भी हो गया। दूसरे ने सोचा कि मेरी तो यहां दाल नहीं गली, भूखों मर रहा हूँ। अतः अब चल देना चाहिए। वह दोस्त के पास गया और कहने लगा–चलते हो क्या दोस्त! उसने कहा दोस्त! मेरा कारोबार बढ़ गया है। मैं अभी नहीं आ सकता हूँ। परन्तु तुम्हारी क्या स्थिति है? तो कहा कि मैं तो देश जा रहा हूँ। मेरी लोग निन्दा करने लगे हैं। इसलिए जा रहा हूँ। अच्छा बता तुम्हें घर पर कोई सन्देश देना है? तब वह बोला–सन्देश तो क्या देना है–कुछ वस्तु देनी है। तुम मेरी पत्नी के लिए ले जाओ। उसने पूछा--क्या देना है? कहा कि दो–ढाई लाख रुपये भेजने हैं। उसने कहा–इतने रुपये मैं कैसे ले जाऊंगा? तो उसने कहा—दोस्त, घबराओ मत, मैं संक्षिप्त रूप में ऐसी निधि दे दूंगा, जिसे तुम पत्नी को दे देना। तब उसने दो रत्न, सवा-सवा लाख के खरीद लिये और दोस्त को दे दिये। कहा कि तुम ले जाओ।

अविश्वास का काम नहीं था। क्योंकि वह जानता था कि मैं विश्वस्त हूं, धोखा देना नहीं जानता हूं, प्रेम करना चाहता हूं, सबके साथ, तो दूसरा कौन मेरे साथ धोखा कर सकता है? उसने धन दे दिया और वह लेकर चला। इसके लिए उसने कुछ भी नामा-लेखा नहीं किया। परन्तु जंगल में आते-आते विचार करने

लगा कि सम्पत्ति छल, कपट, झूठ, बेईमानी के बिना नहीं मिलती है। दोस्त ने जो रत्न दिये हैं, वे सवा-सवा लाख के हैं। उसके मन में पाप-वासना पैदा हो गई और घर आने तक पूरी हो गई। दोनों रत्नों को उसने अपने घर में रख लिए। एक को गिरवी रखकर दस हजार रुपये ले आया और अपने काम में लग गया। दोस्त की पत्नी को आने की सूचना भी नहीं दी। जब दोस्त की धर्मपत्नी को ज्ञात हुआ कि मेरे पति का दोस्त आ गया है, परन्तु पति के समाचार नहीं लाया है तो वह स्वयं चलकर उसके घर गई और कहने लगी कि आप तो पधार गए देवरजी, परन्तु आपके भाई सा. नहीं आए ? तो वह बोला क्या बताऊं–भौजाईजी, वह तो दीवालिया है। उसको तो व्यापार में घाटा ही घाटा लगता है और मैंने तो थोड़े ही दिन में नाम कमा लिया और पुण्यवानी का उदय हुआ सो सम्पत्ति लेकर आ गया। देखिए ! एक पाप के पीछे कितने पाप कर रहा है ? दोस्त की पत्नी ने पूछा कि भाई साहब ने कोई शुभ सन्देश दिया है ? तो कहने लगा कि क्या कहूँ, वह इतना आर्तध्यान में पड़ा है कि शुभ सन्देश भी नहीं कह सका। पूछा कि तबियत तो ठीक है ? कहा—हां, ठीक है, परन्तु चिन्तातुर है। मित्र की पत्नी यह सुनकर दुखित हृदय से लौट गई। थोड़े दिनों के बाद वह दूसरा दोस्त भी अपनी सम्पत्ति लेकर नगर में आया तो नगर निवासी सोचने लगे कि यह तो कह रहा था कि वह तो दीवालिया है। जब वह घर पहुँचा और पत्नी से मिलकर पूछने लगा, प्रिये ! तुम शांति में तो हो ? तो पत्नी ने कहा—आपकी तरफ से शांति में रहूँ या अशांति में रहूं, आपको क्या परवाह है ? तब वह बोला, अरे, मैंने दोस्त के साथ तुम्हें देने के लिए दो रत्न भेजे थे तो क्या मित्र ने नहीं दिये ? तब पत्नी ने कहा आप कहीं भ्रम में तो नहीं हो ? रत्न देना तो दूसरी बात है परन्तु वह कहने लगा कि वह तो दीवालिया है, कर्म फूटा है। तब उसने सोचा कि अहो मेरा मित्र भी ऐसा हो सकता है ? यह स्वप्न में भी ख्याल नहीं था। वह सब काम गौण करके पहिले मित्र के पास पहुँचा। दोस्त को अपने घर आते देखकर उसके दिल में मुर्दानगी छा गई। परन्तु ऊपर से कहने लगा—भाईसा, आप पधार गए ? आनन्द में तो हैं न ? यह मकान बनवा रहा हूँ। तब मित्र ने पूछा—दोस्त ! आपको दो रत्न मेरी पत्नी को देने के लिए दिये थे ना। तो वह बोला— हाँ, हाँ दिये थे। तब आपने उनका क्या किया ? तो कहने लगा, दोस्त ! वे दोनों रत्न मैंने भौजाईजी को दे दिये। तब वह बोला--अरे, वह तो कहती है कि नहीं दिये। यह सुनकर वह बोला—देखो भाई सा, 'त्रियाचरित्रम् पुरुषस्य भाग्यम्, देवो न जानाति, कुतोमनुष्य:' इन स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ये धोखे-

बाज हैं। इनके चरित्र को कोई नहीं जान सकता है और भाईसा! यह कहते हुए भी दुःख होता है कि पीछे से इसका न मालूम किसके साथ सम्बन्ध था? उसको दे दिए होंगे। यह सुनते ही बेचारा घबरा गया और मन मसोस कर रह गया। घर पर आकर पत्नी से कहने लगा कि वह तो यह कह रहा है कि मैंने तो आपकी धर्म-पत्नी को दे दिये और तुम्हारे सतीत्व पर भी लांछन लगा रहा था। तब पत्नी ने कहा कि मैं जब से आपके साथ शादी करके आई हूँ तो क्या कभी झूठ बोली हूं? मेरे पतिव्रता धर्म पर भी आपको पूरा विश्वास है। आपके मित्र के मन में पाप छा गया है। तब वह सोचने लगा–मेरी सम्पत्ति गई सो तो गई, उसकी मुझे चिन्ता नहीं है, परन्तु मेरी पत्नी पर कलंक लगा दिया, धब्बा लगा दिया तब इसको घर में कैसे रखूं? अरे! राम ने सीता को लोकोपवाद से घर से बाहर निकाल दिया तो मैं इसको घर में कैसे रखूं? यह चरित्रहीन हो गई है। लेकिन मुझे अपनी पत्नी पर पूरा यकीन है, वह कभी भी गलत काम नहीं कर सकती। किन्तु इधर दोस्त दूसरी बात कह रहा है। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए? इसी चिन्तन में उसके मन में विचार उठा—हमारे राजा न्यायप्रभु हैं, और शीघ्र ही दूध का दूध और पानी का पानी कर देते हैं। उन्हीं के पास जाकर समस्या रखनी चाहिए। यह सोचकर वह राजा के पास पहुँच गया। और प्रणाम कर निवेदन किया—महाराज! मेरी बड़ी विकट परिस्थिति बनी हुई है। आप न्याय करिये। मैंने मित्र को दो रत्न दिये थे। वह कहता है कि मैंने रत्न तुम्हारी पत्नी को दिये थे जबकि पत्नी कहती है कि मुझे नहीं दिये और वह पत्नी पर लांछन भी लगा रहा है। तब सम्राट ने पूछा कि कोई लिखा-पढ़ी भी है? तो इसने कहा हुजूर! कोई लिखा-पढ़ी नहीं है। तब सम्राट ने उसके मित्र को बुलाया और पूछा कि तुम्हें इसने दो रत्न दिये थे? हां हुजूर दिये थे। परन्तु मैंने इसकी धर्मपत्नी को दे दिये। राजा ने पूछा कि तुम्हारे पास कोई गवाह है? तो वह बोला—हां, और वे भी प्रतिष्ठित गवाह हैं कि जिन पर कोई अविश्वास नही कर सकते। तो सम्राट ने उन गवाहों को बुलवाया और उनसे पूछा कहिए! आपके सामने रत्न दिये थे? उन्होंने कहा—हां हुजूर हमारे सामने दिये थे। तब कानूनी कार्यवाही तो पूरी हो गई। अब क्या कर सकती है सरकार? परन्तु आज जैसा न्याय है वैसा उस समय नहीं था, जो कि गवाहों को ही प्रमुख मानकर चलता हो, उस समय फैसले से पूर्व उसकी गहराइयों में पहुँचकर न्याय दिया जाता था।

वह सम्राट, जो कि न्यायाधीश के पद पर भी था, उन्होंने उन गवाहों को और जिसने गवाही दिलवाई थी, उन सबको अलग-अलग कोठरी में बैठा

दिये। सम्राट अनुभूति के धरातल पर उतरे। सम्राट, एक गवाह की कोठरी में गए और उसके कन्धे पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से कहने लगे कि आप तो बड़े प्रामाणिक हो आदि आदि। इस प्रकार की बातें करते हुए उसे एक-दूसरे कमरे में ले गए। वहां पहिले से ही बहुत से छोटे मोटे पत्थर-कंकर इकट्ठे कर रखे थे। उस स्थान पर उसे ले जाकर सम्राट पूछने लगे कि आपने जिस रत्न के लिए गवाही दी है वह रत्न कितना बड़ा था? आप इन पत्थरों को देखकर अनुमान से बताइये कि वह कितना बड़ा था? उसने जिन्दगी में कभी रत्न देखा ही नहीं था। अतः वह मन से कल्पना करने लगा कि वह सवा लाख का रत्न था अतः कुछ तो बड़ा होना ही चाहिये। यह सोच उसने एक किलो का पत्थर उठाकर बताया कि हुजूर, इतना बड़ा था। तब सम्राट ने उस पत्थर को उसके हाथ से एक टेबिल पर रखवाकर उससे लिखवा लिया कि इतना बड़ा रत्न था।

इसी प्रकार सम्राट दूसरे को भी उसी कमरे में ले गए और उससे भी वही प्रश्न किया। तो दूसरे ने दो किलो का पत्थर उठाया और कहने लगा कि इतना बड़ा रत्न था। सम्राट ने उससे भी पत्थर रखवाकर लिखवा लिया। इसी प्रकार तीसरे ने तीन किलो का और चौथे ने चार किलो के पत्थर जैसा रत्न बताया। इस प्रकार चारों से दस्तखत करवाकर उनको वापिस बन्द करवा दिये। अब जिसने गवाही दिलवाई थी, उससे पूछा कि कितना बड़ा रत्न था? तो उसको तो मालूम ही था, क्योंकि वह तो स्वयं रत्नों को लेकर आया था, देखा था और एक घर में भी रखा हुआ था। सरकार ने पूछा वह रत्न किसकी शानी का है? तब उसने रत्न के आकार का एक छोटा सा पत्थर उठाकर सम्राट के हाथ में देते हुए कहा कि ऐसा था। तब सम्राट ने कहा तुम्हारे यहां भी ऐसा कोई रत्न है? वह बोला हां है। तो उसे लेकर आओ। वह लेकर आया और कहने लगा, हुजूर, ऐसा था। तब सम्राट ने कहा कि आपने जिनकी गवाही दिलवाई है, उनके हिसाब से, सम्राट ने वे पत्थर बतलाते हुए कहा कि ऐसे रत्न हैं। इस पर जब वह कोई जवाब, नहीं दे सका तो सम्राट ने डांट पिलाई कि इस प्रकार से झूठी गवाही दिलवाते हो? तब वह गिड़गिड़ाते हुए कहने लगा—हुजूर, पैसों के लालच से मैंने गवाही दिलवाई है। सम्राट ने कहा—देखो! पैसों के लालच में तुमने सत्य को खो दिया। अब सच सच कहो कि क्या बात है? उसने कहा—महाराज! मेरे मन में पाप आ गया था। मैंने दोनों रत्नों को दबा दिये। उनमें से एक तो यह है और एक को मैंने दस हजार रुपये में गिरवी रख दिया है। सम्राट ने नीर और क्षीर की तरह फैसला कर दिया। अब उसके दोस्त को बुलाया और सम्राट ने कहा—तुम्हारे दोनों रत्न इसके पास

हैं। एक रत्न को गिरवी रख दिया है। तब वह कहने लगा–हुजूर ! आपके फैसले से मेरी पत्नी की इज्जत तो बच गई। क्योंकि इसने कहा था कि तुम्हारी पत्नी को दे दिए, जबकि इसने दिये ही नहीं। अतः इससे पत्नी की ईमानदारी भी सुरक्षित रह गई।

सज्जनो ! आप भी सभी शांति चाहते हैं तो पहले उसकी पहचान क्या है ? इसको पहचानो। वह कितनी बड़ी है ? किलो या दो किलो की है ? जब तक शांति के स्वरूप की पहिचान नहीं करोगे तब तक हजारों बार भले ही प्रार्थना कर लो परन्तु आत्म-सुधार होने वाला नहीं है। कवि ने कहा है—

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन रायरे।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाए रे ॥

भगवन् ! मैं शांति के स्वरूप को कैसे पहचानूं ? मन की परीक्षा कैसे करूं ? मुझे शांति के स्वरूप की पहिचान नहीं है। मन का परीक्षण कैसे करूं ? मन वश में नहीं आ रहा है। परीक्षा कैसे हो ? आज भी बहुत से लोग शांति को न पहचान पा रहे हैं और न मन को पहिचान रहे हैं। शांति को पहचानने के लिए मन का परीक्षण कर, समीक्षण-धारा से प्रवाहित करने वाला एकानुगामी बन। निश्चय ही एक दिन आत्मस्थ शांति को पहचान लेगा। जब तक मन की परीक्षा नहीं होगी तब तक शांति के स्वरूप की पहिचान नहीं कर पायेंगे। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक दूसरे का चोली–दामन जैसा सम्बन्ध है। मन की गतिविधि का समीक्षण करना होगा। कहां मन छिपा है ? उसको सम्यग् देखे बिना, मन को आज्ञा में नहीं ला सकते हो।

मनरूपी पंखा

मन का पंखा घूम रहा है। कषाय की गर्म हवा चल रही है। जिससे यह आत्मा परतन्त्र बनी हुई है। कर्मों के भार से दबी हुई है। जिससे आत्मा पूरी बोल भी नहीं पाती है। अन्दर में पापों की गर्मी हो रही है। पापों का पंखा घूमता हुआ बन्द हो तो मन नियन्त्रित हो सकता है। सुज्ञजन बहुत कोशिश करते हैं, परन्तु वह हाथ में नही आता है। वह तो घूम ही रहा है। ज्ञानीजन कहते हैं कि मन को

परीक्षा करनी है तो इसकी गतिविधि को जानो कि इन मनरूप पंखे का स्विच कहां है ? वह इसी शरीर में है, इस स्वीच का बोध समीक्षण ध्यान से हो सकता है ।

मन का परीक्षण-समीक्षण करें

अन्दर की सच्ची स्थिति को खोजना है तो मन की खोज करने की आवश्यकता है । मन की खोज का उपाय है—समीक्षण ध्यान । इससे मन की चावी हाथ में आ सकती है । परन्तु चेष्टा की जाए तभी मन का परीक्षण होगा और शांति का स्वरूप सामने आएगा । समीक्षण, भीतर में देखना कि शांति का स्वरूप कैसा है ? इसके लिये समीक्षण ध्यान का ध्यान कीजिए । हां, मेहनत करनी पड़ेगी । जब ध्यान की विधि सीख जाओगे तब, वह स्वतः आपके वश में हो जाएगा । मन का सही परीक्षण भव्य ही कर सकता है । अभव्य नहीं कर सकता है । क्योंकि भव्य को जिज्ञासा रहती है, अभव्य को नहीं रहती है । भव्य ही साधना की ऊँचाइयों पर चढ़ता हुआ मुक्ति के शैल पर आरोहण कर सकता है । संसार रूपी समुद्र को भी वही तैर सकता है । जैसा कि मूलाचार में कहा गया है—

णिज्जावगोयणाणं, वादो झाणं चरित्तणावाहि
भवसागरं तुभविया, तरंतितिहि सण्णिपायेण

ज्ञान को नियामक कहा गया है । ध्यान को पवन बतलाया गया है । ऐसा ध्यान समीक्षण ही हो सकता है और सम्यक् चारित्र नाव है जिस पर बैठकर भव्य आत्मा, ज्ञान की नियामकता से तथा समीक्षण ध्यान की प्रखर लहरियों से संसार समुद्र पार कर जाती है । ध्यान को स्थिर लक्ष्यानुगामी बनाने के लिये मन का परीक्षण करना आवश्यक है । जब आप मन के परीक्षण में लग गए तो फिर किसी के मनवार की आवश्यकता नहीं रहेगी । वहां जिज्ञासा ही ऐसी होती है । जहां आपको भूख जोर की लग रही होगी तो आप स्वयं तपास करेंगे कि भोजन कहां है ? ऐसे ही जहां सच्ची शांति की जिज्ञासा—तमन्ना पैदा हो जाएगी तो स्वयं तलाश करने लग जायेंगे, किसी के मनवार की जरूरत नहीं रहेगी । आज तो मनवार करने पर भी करने की नहीं सोचते हैं । समय बहुत आ चुका है । अतः विषय को विस्तृत नहीं करता हुआ, मेरा तो केवल इतना ही कहना है कि जो भी भव्यात्मा मन का समीक्षण करेगी उसका जीवन परम सुख और परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा ।

———

सच्चा गुरु : सच्चा मार्गदर्शक

- कल्पना मानव की
- कल्पना बने : सुविशुद्ध
- निमित्त योग्य हो
- जिनवाणी : संरक्षण हो सभी का
- आत्मोन्नति में सहायक गुरु कैसे हो ?
- पांच दाने चावल के
- कहानी का आध्यात्मिक पक्ष

मानव कल्पनाशील है। वह प्रति समय किसी न किसी प्रकार की कल्पना करता ही रहता है। कल्पना के इस अनवरत प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। आवश्यकता है उसे सही रूप में नियोजित करने की।

आज के अधिकांश मानव सही मार्गदर्शक के अभाव में विपरीत कल्पना से भटकते जा रहे हैं। उनके लिए सच्चे मार्गदर्शक गुरु की आवश्यकता है। वह गुरु कैसा हो? इसके लिए दृष्टान्तगत रक्षिका और रोहिणी का आदर्श सामने आता है।

आचारांग निर्युक्ति में सच्चे गुरु—साधक के लिए बतलाया है—

जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहई अग्गी।
तह खलु खवंति कम्मं, समच्चरणे ठियासाइ॥

जिस प्रकार आग, शुष्क, काष्ठ को जलाकर भस्म कर डालता है, वैसे ही साधक सम्यक् आचरण से कर्मों को जला डालता है।

ऐसा ही साधक अन्य मुमुक्षुओं को भी सही निर्देशन देकर उनके कर्म-क्षपण में भी सहायक बन सकता है।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगम धर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे,
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव सार रे ॥

कल्पना : मानव की

वन्धुओ ! कई आत्माएँ जब मनुष्य तन को लेकर आती हैं, तब वे मनुष्य जीवन में रहती हुई अनेक तरह के अरमान संजोती हैं। अनेक तरह की कल्पनायें करती हैं। उन कल्पनाओं का अन्त नहीं हो सकता है। एक दिन में कितनी ही कल्पनायें खड़ी हो जाती हैं और विलय को भी प्राप्त होती हैं। वे कल्पनायें उथल-पुथल, क्यों पैदा करती हैं ? इसका यदि अनुसंधान किया जाए तो ज्ञात होगा कि कल्पना का आधार आत्मा है, वह स्वयं अपने आपको प्रकट करना चाहती है और आत्मा का स्वाभाविक गुण परम सुख और परम शांति है, उसको अभिव्यक्त करने की धगस तमन्ना उसमें रही हुई है। वह अन्दर की लगन सही मायने में बाहर नहीं आ पाती। क्योंकि उसके ऊपर कर्मों का आवरण है। उस आवरण के रहते हुए वह अपना सही रास्ता क्या है ? उसका भी पता नहीं लगा पाती। वह मानव जरूर सोचता है कि मेरा वास्तविक रास्ता शांति है। तब वह कर्मों के बीच में से आने वाली चैतन्य धारा को, चैतन्य तरंगों को मन के माध्यम से कल्पित करता है—कल्पना दौड़ाता है कि यह करूं तो सुख मिलेगा—ऐसा करूंगा तो ऐसा होगा, ऐसा नहीं करूंगा तो ऐसा नहीं होगा। सर्विस करूं, व्यापार करूं तो कौनसा व्यापार करूं ? अमुक करूंगा तो अमुक होगा, अमुक नहीं करूंगा तो अमुक नहीं होगा। यह दिनभर की कल्पना उसी मूल आधार पर खड़ी रहती है, और मनुष्य कल्पना ही कल्पना में रात और दिन डूबा रहता है। अधिक कल्पना करने से वह मार्ग निश्चित नहीं कर पाता कि कौनसा कार्य करने से मुझे परम सुख और परम शांति मिलेगी ? निर्णय ही नहीं हो पाता और वह जाल में फंस जाता है। फिर भी अन्तिम समय तक वह कल्पना में ही डूबा रहता है और जैसे ही मस्तिष्क की शक्ति कमजोर पड़ी कि वह उन्हीं कल्पनाओं में डूबा रहकर परलोक की यात्रा कर लेता है।

कल्पना बने : सुविशुद्ध

ऐसी स्थिति में इस अमूल्य मानव तन में शाश्वत सुख को पाना है तो अपने चिन्तन किंवा कल्पनाओं को वहिर्मखी न रखकर, अन्तर्मुखी बनाना होगा। अपनी आत्मा के साथ विश्व की समस्त आत्मा का समीक्षण करना सीखें। वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित अविशुद्ध और सुविशुद्ध भावों पर यथावत् दृढ़ श्रद्धान बनाएँ। अविशुद्ध भावों की हानियाँ जानकर सुविशुद्ध भावों में प्रवृत्ति करने के लिए प्रयत्नशील बनें। क्योंकि सुविशुद्ध भावों को अंगीकार करने पर ही शांति का महाद्वार खुल सकेगा। सुविशुद्ध भाव, पवित्र भाव है। पवित्र भाव की किरणों में से कदाचित् कल्पना भी उठे तो वह कल्पना भी पवित्र रास्ते के लिए होगी। कल्पना करते हुए एक दिन पवित्र रास्ते पर चल पड़ेंगे। इस प्रकार की अच्छी निष्ठा के साथ चल दिये तो सब मार्ग ठीक बन जायेंगे। ऐसी दृढ़ आस्था भव्य प्राणियों में बननी चाहिये।

निमित्त योग्य हो

आस्था के साथ सम्यक्ज्ञान पाने के लिए सम्यक् निमित्त होना चाहिए। विना निमित्त के मनुष्य में स्वतः ऐसा सम्यक्ज्ञान कम होता है। क्योंकि सम्पर्क अच्छा रहता है तो उसकी भावना अच्छी बन जाती है और यदि सम्पर्क बुरा मिलता है तो उसकी भावना बुरी बन जाती है। विरले ही ऐसे मनुष्य होंगे कि विना किसी के सहयोग के पवित्र भावना बना सकें। वह सहयोग भी एरे-गेरे नत्थूखेरे का नहीं हो, अन्य व्यक्तियों का नहीं हो परन्तु किसी विशिष्ट पुरुष का सहयोग मिले। विशिष्ट पुरुष गिनती की दृष्टि से आध्यात्मिक क्षेत्र में तीर्थंकर हैं और उनके वाद गणधर, उनके शासन में रहने वाले केवली और उसी शासन परम्परा में चलने वाले सुधर्मास्वामी आदि आचार्य और मुनिगण—इनका यदि सहयोग मिलता है तो व्यक्ति अपनी भावना को पवित्र बनाता हुआ आगे बढ़ सकता है। क्योंकि ये महापुरुष जिस बात को कहते हैं, वे समस्त प्राणियों के लिए हितकारी होती हैं। क्योंकि तीर्थंकर देवों ने जिस वाणी का उपदेश दिया, उस वाणी में सर्वतोमुखी विकास रहा हुआ है। अर्थात् मनुष्य उस वाणी को जीवन में स्थान दे दे, प्रतिपल, प्रति समय उसको भूले नहीं तो उसके जीवन की भव्य अवस्था बने बिना नहीं रहेगी।

जिनवाणी : संरक्षण हो सभी का

जगत पिता के तुल्य तीर्थंकर देवों ने जो उपदेश दिया, उस उपदेश का प्रयोजन बताते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि—"सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" समग्र जगत् के प्राणियों की रक्षा के लिए भगवान ने उपदेश दिया। प्राणियों की रक्षा के लिए उपदेश दिया तो उनका रक्षण एक हिस्से से हो और एक हिस्से से नहीं तो यह नहीं बनता। शरीर का रक्षण हो और आत्मा का रक्षण नहीं हो तो यह भी नहीं बनता। रक्षण शरीर और आत्मा दोनों का हो। शरीर से भी आत्मा का रक्षण महत्वपूर्ण है। रक्षण से मनुष्य जीवन को वर्तमान में सभी दृष्टि से सुरक्षित रखें, जिससे भविष्य के लिए भी वह अपनी आत्मा का कल्याण सुरक्षित रख सके। इस दृष्टिकोणसे वीतराग देव की वाणी आज के युग की भाषा में कहूँ तो सर्वोदय-सर्वोपयोगी वाणी है। वैसे सर्वोदय शब्द का प्रयोग तो विनोबाजी ने किया है और उसका आन्दोलन भी चला। परन्तु वह एक ही हिस्से में चला और उस सर्वोदय में मुख्यतया रोटी-रोजी के प्रश्न समाहित हैं। आध्यात्मिकता की मुख्यता कम है। जबकि भगवान् महावीर और तीर्थंकरों ने जो सर्वोदय का मार्ग दिया, उस सर्वोदय के मार्ग में सब प्रकार का उदय, विकास और सब प्रकार की सुरक्षा का उपाय निहित है। इतना पवित्र मार्ग जिन आत्माओं को मिला, उनका क्या कर्तव्य होता है? उन्हें चाहिये कि इस मार्ग को लेकर चलें और स्व का संरक्षण-संवर्धन करें। उनका जीवन आत्मशांति के महापथ पर बढ़ सकता हैं।

आत्मोन्नति में सहायक गुरु कैसे हों?

जिनका निमित्त उपयोगी होता है वे संत-गुरु कैसे होने चाहिए—यह बताते हुए कवि आनन्दघनजी कविता के माध्यम से कह रहे हैं कि—

आगम धर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे,....

निमित्तभूत गुरु कैसे हों? उनके लिए विशेषण लगाया है कि—'आगमधर'—आगम को धारण करने वाले। यदि गुरु-मुनि आगम को धारण करने वाले नहीं हैं, आगम शब्द के अभिप्राय को समझने वाले नहीं हैं। आगम का तात्पर्य—अर्थ क्या है? इसका भी जिनको ज्ञान नहीं है। केवल आगम के शब्दों को रट लें तो वे

आगमधर नहीं कहलाते। आगमधर वही कहलाते हैं, जिन्हें आगम का व्युत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान हो, साथ-साथ अनुभूति-अनुभव के साथ अपने जीवन में ढालते हुए चल रहे हों अर्थात् आगम के सूत्रों का नयनिक्षेप, व्याकरण से यथावत् अर्थ जानकर, गहरी अनुभूति के साथ उनका निचोड़ निकालते हुए तदनुसार अपने जीवन का वर्तन करते हों, और वैसा ही उपदेश भी देते हों, ऐसे आगमधर गुरु का प्रसंग जहां मिलता है, वहीं जीवन की कला बिकसित हो सकनी है। आगम के आचरणीय मौलिक सिद्धान्तों को मुनिगण सर्वांशों में अपना सकते हैं। किन्तु गृहस्थ जीवन में रहने वाले मनुष्य परिपूर्ण रूप से उसे जीवन में नहीं ढाल सकते हैं। पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति–ये परिपूर्ण रूप से साधु ही अंगीकार कर सकता है। साधु उनको अंगीकार करने के साथ उनकी सुरक्षा भी करे। सम्यक्ज्ञान के साथ आचरण से जीवन में चार चांद लगाता हुआ चले तो ही वह आगमधर की कोटि में आ सकता है। शास्त्रकारों ने ऐसे आध्यात्मिक विषय को समझाने के लिये घरेलू उदाहरण भी दिये हैं। लोगों की समझ में आवे ऐसी वात भी बताई है।

पांच दाने चावल के

शास्त्रों में धन्ना सेठ की वात आई है। कहानी का सार मैं अपनी भाषा में प्रस्तुत कर देता हूं। सेठ, अन्तराय के क्षयोपशम से धनवान तो थे ही परन्तु उसके साथ ही साथ उनका भरा-पूरा परिवार भी था। धन और परिवार ये दोनों मिल सकते हैं, परन्तु धर्म की स्थिति विरलों को ही मिलती है। धन और परिवार हैं, परन्तु धर्म नहीं है तो उनका जीवन अधूरा ही रहता है। धर्म के अभाव में धन और परिवार, सुख और शांति देने वाले नहीं बनते। वे उसके लिए इस लोक और परलोक दोनों के लिए सुखदायी नहीं होते। परन्तु धन्ना के जीवन में इन दोनों चीजों के साथ धर्म भी था। वह धर्म को प्रमुख रखकर चलता था। परिवार और धन के पीछे इतना आसक्त नहीं था। उसके लिए धर्म पहिले था और वाद में दूसरी चीज थीं। वह धर्म भाव को लेकर चल रहा था। उसके एक के वाद एक चार पुत्रों का जन्म हुआ। जिनका क्रमशः नाम रखा गया—धनपाल, धनदेव, धनगुप्त और धनरक्षित। चारों को शिक्षण दिलवाया। उसने उनको केवल व्यापारिक शिक्षण और व्यावहारिक शिक्षण ही नहीं दिलवाया, परन्तु उन्हें धार्मिक शिक्षण से भी ओतप्रोत किया। जैसा पिता होता है, वैसे ही प्रायः पुत्र भी होते हैं। पिता यदि धार्मिक संस्कारों से शून्य होता है तो वह सन्तानों को भी धार्मिक संस्कार नहीं देगा। धन्ना, चूंकि स्वयं धार्मिक संस्कारों से संस्कारित था, तो उसने पुत्रों को समझाया कि पुत्रो !

यदि जीवन में सुख और शांति का अनुभव करना चाहो तो धर्म को मत छोड़ना। शरीर की तो ऊंची-नीची अवस्था होती रहती है, परन्तु धर्म आत्मा का है। आत्मा को सुखी बनाने के लिए धर्म आवश्यक है। वह यदि धर्म में मजबूत रहा तो संसार की भले ही ऊँची-नीची परिस्थितियां हो जायं परन्तु एक न एक दिन सब ठीक हो जाता है।

संतान भी धन्ना की शिक्षानुसार वैसे ही कार्य करने लगी। चार पुत्र धर्म के साथ व्यापार करने लगे। जब शादी का प्रसंग आया तो धन्ना सेठ ने उन चारों की चार सुन्दर गुणवती कन्याओं के साथ शादी कर दी। उन चारों का नाम क्रमशः उज्झिता, भोगवती, रक्षिता और रोहिणी था। वे भी चतुर थीं, अपने-अपने कार्यों में और पीहर से धर्म के संस्कार ले चुकी थीं।

एक दिन सेठ ने अपनी पुत्रवधुओं से शिक्षा के रूप में कहा, देखो पुत्रवधुओ! यदि तुम धन और परिवार में मुग्ध हो गई और धर्म नहीं किया तो यह मुझे पसंद नहीं होगा। मेरे घर में धर्म पहिले है और बाद में दूसरी बातें हैं।

जब परिवार का मुखिया ऐसी आज्ञा देता है तो परिवार के सदस्य उस रास्ते पर अवश्य लग जाते हैं। बहुएं पहिले ही धार्मिक स्वभाव की थीं और तो श्वसुर के आदेश को पाकर और अधिक धर्म ध्यान करने में तन्मय रहने लगीं। धन्ना सेठ अब आनन्द का अनुभव करने लगा। चारों पुत्र और चारों पुत्रवधुएँ अपना-अपना काम सम्भाल रही थीं। चारों भाई और चारों पुत्रवधुओं में आपस में भी अच्छा प्रेम भाव था। एक दिन सेठ ने सोचा कि अब मैं निश्चित होकर धर्मसाधना करूं इससे पहले जीवन में एक बात अवश्य शेष रह गई कि मैंने पुत्रों के लिए सम्पत्ति का बंटवारा नहीं किया। ये पुत्र अपार सम्पत्ति कमा रहे हैं और नहीं कमायें तो भी मेरे पास इतना धन है कि सात पीढ़ी तक भी खाए तो नहीं खुटे। मुझे तो इस सबको छोड़ना है। परन्तु यदि बंटवारा कर दूंगा और ये इस सम्पत्ति को कायम नहीं रख सकेंगे तो यह भी अयोग्य कार्य होगा। फिर क्या किया जाय? कैसे किया जाय? इसी चिन्तन के साथ उनके मस्तिष्क में एक युक्ति आ गई। प्रातः काल होते ही सेठ ने उस समय के सामाजिक नियम के मुताबिक सब गांव वालों को और परिवार वालों को इकट्ठे करवाए। उस समय सामाजिक व्यवस्था भी अच्छी थी कि जब भी परिवार की व्यवस्था करते तो वे सबको इकट्ठा करते थे। धन्ना सेठ के यहां का निमंत्रण पाकर सब लोग पहुँचे। उन्हें भोजन कराया गया।

भोजन से निवृत्त होकर सेठ के पास एकत्रित हो गए। उस समय सेठ मन में सोच रहा था कि मैं पहिले पुत्रों का परीक्षण करूं या पुत्रवधुओं का? पुरुष चाहे कितना भी चतुर हो, कमाने वाला हो परन्तु यदि उसके घर की स्त्री चतुर नहीं है तो पुरुष की जितनी कमाई है, वह सारी बेकार चली जाएगी। गृहस्थाश्रम में सम्पत्ति को या सारे वैभव को सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व महिलावर्ग पर अधिक होता है। महिलायें यदि चतुर होती हैं तो धन की सुरक्षा कर सकती हैं। इसलिए सेठ ने सोचा कि पुत्रों की परीक्षा गौण रखे, और पुत्रवधुओं की परीक्षा करना ही उपयुक्त है। सब नागरिक जन और परिवार के लोग बैठे हुए थे। सबके बीच में सेठ ने पुत्रवधुओं को याद किया। वे चारों उपस्थित हो गईं और नतमस्तक होकर एक तरफ खड़ी हो गईं। उस समय सेठ ने छिलके सहित चावल के दाने जिनको शाली कहते हैं—मंगवाए और चारों पुत्रवधुओं को उस धान के, चावल के पांच-पांच दाने देते हुए कहा बींदणीजी, ये दाने तुम ले जाओ और जिस समय मैं चाहूँ उस समय ये वापिस मिलने चाहिए। उन्होंने सबके सामने वे दाने ले लिए और चारों अपने स्थान पर चली गईं। यह देख सब गांव के लोग और परिवार वाले आश्चर्य करने लगे कि इतनी धार्मिक वृत्ति वाले सेठ यह क्या कर रहे हैं? चावलों को सुरक्षित रखने के लिए केवल पांच-पांच दाने चावल के दिये। तो क्या इनके घर में चावल नहीं हैं? परन्तु सब चुप रहे और देखते रहे। क्योंकि वे जानते थे कि ये सेठ बाहर की संपत्ति में आसक्त नहीं हैं। ये तो उसे छोड़ रहे हैं और अंतरंग सम्पत्ति को प्राप्त करने जा रहे हैं। अतः कोई कुछ भी नहीं बोला।

इधर सबसे बड़ी पुत्रवधू अपने कमरे में पहुँची और मन में हंसी कि इतने बड़े ससुर और जिनकी धार्मिक प्रतिष्ठा है, सब लोगों में भी श्रेष्ठ माने जाते हैं। परन्तु आज कितनी बेसमझी की बात कह गए। मालूम होता है कि बुढ़ापे में इनकी बुद्धि सठिया गई है। जैसे कि कहावत है—'साठी बुद्धि नाठी'। खैर, लोगों के सामने इज्जत रखने के लिए मैंने ये दाने ले लिये। ऐसा सोचकर बड़ी बहू ने उन्हें फेंक दिए और सोचा कि जब मांगेंगे तब लाकर दे दूंगी। क्या घर में चावलों की कमी है?

दूसरी बींदणी ने सोचा कि ससुर जी की बात समझ में नहीं आई, क्यों उन्होंने दाने दिये? और क्यों वापिस बदल लेने के लिए कहा? इसका रहस्य तो वे ही जानते हैं। परन्तु कम से कम ससुरजी ने ये दाने दिये तो उनकी मेरे ऊपर कृपादृष्टि

है। इनको अस्वीकार नहीं करना चाहिए और इनको फेंकना भी नहीं चाहिए। प्रसाद समझकर खा लेना चाहिए। अतः वह उनके छिलके उतार कर खा गई। सोचा जब वे मांगेंगे तो कोठार में से लाकर दे दूंगी।

तीसरी ने सोचा कि ससुरजी बहुत बुद्धिशाली हैं। इस बच्चों के सरीखे खेल में भी कोई रहस्य है। उन्होंने जो पांच दाने दिए हैं, मैं उन्हें सुरक्षित रख दूं। यह सोच उसने एक मखमल के कपड़े में रखकर उन्हें तिजोरी में रख दिया।

अब जो सबसे छोटी पुत्रवधू रोहिणी थी, उसने भी अपने कमरे में जाकर उन दानों के विषय में चिन्तन-मनन किया। इसकी बुद्धि सबसे अधिक तीक्ष्ण थी। उसने सोचा कि ससुर सा ने ये पांच दाने जो सबके बीच में दिये हैं तो इसमें कोई न कोई विशेष रहस्य होना चाहिए। रहस्य तो मैं नहीं समझ पा रही हूँ। परन्तु मैं इन दानों को ठीक तरह से सुरक्षित रखूं। सुरक्षा ऐसी हो कि इन दानों का बहुत विस्तार हो जाय, अतः उसने उन दानों को अपने पीहर-पिता के पास भिजवा दिये, और कहला दिया कि इन पांच दानों को बोवनी के टाइम अलग ही बो दें और इनको बोने के बाद जो दाने पैदा हों उन्हें अगले साल फिर बो दें। जब तक मैं सूचना नहीं भिजवा दूं, तब तक लगातार बोते रहें। इस प्रक्रिया को नहीं छोड़ें।

प्राचीन काल में कभी-कभी पुत्रियों के लिए भी जमीन दे दी जाती थी। पर उस जमीन की देखरेख उसके पिता के सदस्य ही करते थे। रोहिणी के पीहर वालों ने इसे दहेज में जो जमीन दी थी, जिसकी सुरक्षा वे ही करते थे। रोहिणी के द्वारा भेजे गये दानों को उसके पिता ने पुत्री के ही खेत में समय आने पर बो दिये। आप जानते हैं कि एक दाने के कितने हो जाते हैं ? पांच दानों के पहिली फसल में ही बहुत दाने हुए और उतने ही दाने सुरक्षित रखकर अगले साल फिर बुवा दिये। अब उनके कई गुणा दाने हो गए ? इस प्रकार लगातार बुवाते हुए पांच साल हो गए तो उन पांच दानों के कितने मन दाने बन गये होंगे ? इसकी गिनती आप सुज्ञ पुरुष करें।

इस प्रकार उन दानों को दिये हुए लगभग पांच साल पूरे हो गए। अब एक दिन अचानक सेठ साहब को याद आई कि मैंने पुत्रवधुओं की परीक्षा लेने के लिए पांच दाने दिये थे, परन्तु अभी तक वापिस मांगे ही नहीं। मुझे तो अब धर्मसाधना में लगना है। क्योंकि न जाने किस समय कालचन्दजी आकर झपाटा मार जायें और

मैं धर्म से रहित जीवन को लेकर चला जाऊं। तो यह ठीक बात नहीं है। अब जल्दी से निपटारा करना है। धन्ना सेठ ने फिर उसी तरह से नागरिकों को और परिवार वालों को बुलाया और उन्हें जिमाया। फिर उन्हें बैठाकर उन सबके समक्ष उन चारों पुत्रवधुओं को बुलवाया और सबसे पहिले बड़ी बींदणी को अपने पास बुलाकर पूछा-बींदणीजी! मैंने पांच वर्ष पहिले तुम्हें याद हो तो पांच दाने चावल के दिये थे तो वे कहां है? वे लाओ। बड़ी बहू गई और कोठार से ले आई और ससुर सा. को दे दिए। तब सेठ ने पूछा-सच बोलो बींदणीजी! मैंने दिये वही दाने हैं या ये दूसरे हैं? तो वह बोली ससुर सा., वे तो नहीं हैं। उन्हें तो मैंने फैंक दिये थे। अब ये कोठार में से लेकर आई हूँ। सेठ ने कहा—अच्छा, अपनी जगह बैठ जाओ। अब दूसरी बींदणी को पास में बुलाया और वही प्रश्न किया। तब उसने कहा ससुर सा. मैं भी कोठे में से लेकर आई हूं। वे दाने तो मैं आपका प्रसाद समझकर खा गई थी। फिर तीसरी को बुलाकर पूछा तो उसने कहा-मैंने उन्हें तिजोरी में अपने जेवरों की तरह सुरक्षित रख छोड़े थे। उन्हें ही लेकर आई हूँ। यह कहते हुए ससुर सा. को दाने सौंप दिये। अब सबसे छोटी चौथी पुत्रवधू को पास में बुलाकर पूछा कि बींदणीजी, वे दाने लाओ, कहां हैं? तब उसने बड़ी विनम्रता से कहा-ससुर सा., उन दानों को मंगवाने के लिए कई नौकर और कई गाड़ियें भेजनी पड़ेगी तभी वे आ सकेंगे। तब सेठ ने कहा—अरे! क्या कह रही हो? पांच दानों को लाने के लिए गाड़ियें चाहिए। रोहिणी ने कहा-ससुर सा. आपने तो केवल पांच दाने दिए थे, परन्तु उनका ही विस्तार मैंने किया। उन्हें मैंने फैंके नहीं हैं। यह सुनकर नागरिक लोग और परिवार वाले सभी आश्चर्य करने लगे। परन्तु सेठ सुनकर प्रसन्न हो रहा था। आखिर बींदणी ने सब के बीच में विस्तार से बात कही। तब धन्ना सेठ ने उसके पिता के यहां गाड़ियें भिजवाईं, कई गाड़िये भरकर आये। पांच दानों के विस्तार की स्थिति देखकर सेठ ने अपने मन में निर्णय कर लिया कि यह घर की लक्ष्मी बन सकती है। यह चाहे छोटी पुत्रवधू है, परन्तु किसी को छोटा देखकर कभी अनादर नहीं करना चाहिये। सेठ ने सब के समक्ष कहा कि मेरे मरने के बाद घर की स्वामिनी यह छोटी बहू रहेगी। इस रोहिणी में बड़ी कला है, समझ है, विवेक है। किस प्रकार सम्पत्ति को बढ़ाना और कैसे सुरक्षित रखना, यह अच्छी तरह जानती है और जब यह बाहरी सम्पत्ति में कुशल है तो आध्यात्मिक सम्पत्ति में भी पीछे नहीं रहेगी। सेठ ने कहा कि जो तीसरे नम्बर की पुत्रवधू है, उसे घर की सम्पत्ति के संरक्षक के रूप में नियुक्ति करता हूँ। इसमें रक्षा करने की कला है। सम्पत्ति को उड़ाएगी नहीं बल्कि तिजोरी में सुरक्षित रखेगी और दूसरे नम्बर

की पुत्रवधू को रसोई का काम सौंपता हूँ। क्योंकि यह रसोई जिमाने में होशियार है। इसको खाना पसन्द है, खाने पर इसका अधिकार है। सबसे बड़ी बींदणी फैंकने में चतुर है, तो उसे घर का कचरा साफ करने के लिये नियुक्त करता हूं। यह बात सुनकर सब आश्चर्य करने लगे कि सेठजी कितने बुद्धि में प्रखर हैं। कैसा विवेचन करके कार्य सौंपा है? इस घर का बाल बांका भी होने वाला नहीं है। इस घर को यह छोटी पुत्रवधू सम्भालकर रखेगी और दूसरों को शिक्षण भी देगी। यह होशियार है। सेठ का घर लम्बी अवधि तक चल सकेगा।

कहानी का आध्यात्मिक पक्ष

महाप्रभु महावीर ने साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। जिस प्रकार धन्ना सेठ ने अपनी चारों पुत्रवधुओं को चावल के पांच दाने दिये थे, वैसे ही शास्त्र में ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र के सातवें रोहिणी नामक अध्ययन में साधु-साध्वियों के लिए बतलाया है कि महाप्रभु ने उन्हें पांचों दाने के समान, पंचमहाव्रत दिये हैं। जिनकी व्यवस्थित रूप से अनुपालना करते हुए सुरक्षा की जाय। श्रावक-श्राविकाओं को भी उनके जीवन की सुरक्षा के लिए पांच अणुव्रत दिए हैं।

जिस प्रकार बड़ी बहू ने दाने फैंक दिये थे, वैसे ही जो साधु पांच महाव्रतों की सुरक्षा नहीं करता है और उन महाव्रतों को तोड़ देता है, वह 'बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाण, बहूणं सावियाणं हीलणेज्ज जाव अणुपरियट्टस्सइ' अर्थात् चतुर्विध संघ की अवहेलना का पात्र बनता है और जो साधु-साध्वी, दूसरी बहू भोगवती की तरह रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर महाव्रतों को खा जाते हैं, तोड़ डालते हैं, वे भी चतुर्विध संघ की अवज्ञा के पात्र बनते हैं। जो साधु-साध्वी तीसरी बहू की तरह महाव्रतों का विस्तार तो नहीं करते और नहीं उन्हें नष्ट करते हैं, बल्कि उनकी सुरक्षा करते हैं, वे साधु-साध्वी इस भव में चतुर्विध संघ के अर्चनीय होते हैं और जो साधु-साध्वी रोहिणी की तरह पांच महाव्रतों की सुरक्षा के साथ उसमें विशेष पराक्रम करते हैं, वे इस भव में चतुर्विध संघ के अर्चनीय, वंदनीय तो होते ही हैं, साथ ही पर भव में भी यथाशीघ्र मुक्तिगामी बन जाते हैं। महाव्रतों का विस्तार उन्हें मोक्ष तक पहुंचा देता है।

श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वियों के छोटे भाई हैं। अतः उन्होंने अणुव्रत स्वीकार किये हैं। उनका यथावत पालन नहीं करते हैं तो उनकी भी साधना सफल

नहीं बन सकती। उन्हें भी अपने पांच अणुव्रत रूप पांच दानों की सुरक्षा एवं विस्तार करना आवश्यक बन जाता है।

गुरु के रूप में प्राणियों को सम्यक् अवबोध देने वाले मुनि, रक्षिका और रोहिणी के समान होने चाहिए। जो गुरु, उज्झिता और भोगवती के समान होते हैं, वे न तो अपनी रक्षा कर सकते हैं और न ही अन्य का जीवन विशुद्ध बना पाते हैं।

जो विशुद्ध रूप से पंचमहाव्रतों का संरक्षण-संवर्द्धन करने वाले होते हैं, उनके विशुद्ध आचरण का फल बतलाते हुए आचारांग निर्युक्ति में कहा है—

जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइग्गी।
तह खलु खवंति कम्मं, समच्चरणो ठिया साहू॥

जिस प्रकार शुष्क काष्ठ को अग्नि शीघ्र ही जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार जो साधक आचार का सम्यक् अनुपालन करते हैं, वे कर्मों को शीघ्र नष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं। साधना पथ पर बढ़ने वाले व्यक्ति के लिए ऐसे ही गुरु सच्चे मार्गदर्शक हो सकते हैं। अतः सम्यक्-ज्ञान के साथ सम्यक् आचरण की दिशा में बढ़ने वाले मुमुक्षु के लिये सच्चे गुरु की खोज आवश्यक है, ताकि उनके सान्निध्य में साधना कर सके, और मानव जीवन को सफल बना सके।

समीक्षण करो : जन्म और मृत्यु का

- ☐ मानव की सार्थकता कषाय मुक्ति से
- ☐ संघर्ष दो प्रकार का : बाह्य ग्रौर भीतर
- ☐ वर्धमान से महावीर
- ☐ समता का ग्रादर्श : महाप्रभु का शासन
- ☐ भेदविज्ञान की प्रतीक
- ☐ सेवा की समुचित व्यवस्था
- ☐ जतन ने किया ग्रात्मा का जतन
- ☐ जन्म एवं मृत्यु
- ☐ कषाय मुक्ति किलमुक्तिरेव
- ☐ कषायों के चक्र से ग्रात्म लक्ष्य साधें
- ☐ मृत्यु को महोत्सव बनावें

जा जा वच्चइ रयणी,
ण सा पडिणियओई ।
अहम्मं कुणमाणस्स,
अहला जंति राईओ ॥
जा जा वच्चइ रयणी,
ण सा पडिणियओई ।
धम्मं च कुणमाणस्स,
सहला जंति राईओ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र
१४–२४, २५

जिसने भी जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है ।

जो समय व्यतीत हो चुका है, वह किसी भी कीमत पर वापिस नहीं आता । धर्म करने वाले के लिए वह सार्थक और अधर्म करने वाले के लिए निरर्थक हो जाता है ।

मृत्यु को महोत्सव बनावें, इसके लिए जीवन को समीक्षण से अनुरंजित करना आवश्यक है ।

आज का समय इस स्थल पर जिस परिस्थिति से व्यतीत हो रहा है, वह परिस्थिति आपके समक्ष पूर्व के वक्ताओं से स्पष्ट हो चुकी है। इस परिस्थिति का सिंहावलोकन करते हुए जीवन का सिंहावलोकन भी करना आवश्यक है।

मनुष्य-जीवन की समुपब्धि होना, निरुद्देश्य नहीं है। उद्देश्य के साथ, मनुष्य जीवन की उपलब्धि सहसा नहीं होती।

जन्म और मृत्यु का चक्र—चक्रव्यूह की दृष्टि से भी अधिक जटिल है। जिस चक्र में यह सत्-चित-आनन्दधन रूप आत्मा, बहुत ही जटिल रूप से उलझी हुई है, इस उलझन में से, इस चक्रव्यूह की पंखड़ियों में से आत्मा को सुरक्षित निकाल लेना, यही भव्य मानस का उद्देश्य होना चाहिये। आज का प्रसंग हृदयंगम करने का प्रसंग है। जिस उद्देश्य से उस आत्मा ने साधना की और उसकी सम्प्राप्ति हेतु वह चल पड़ी, तो उसने मानवीय तन को सफल बनाने का सार्थक प्रयत्न किया है।

मानव की सार्थकता–कषायमुक्ति से

मानव तन में आना, आर्यकुल में जन्म लेना आदि की सार्थकता, सत् पुरुषार्थ पर ही हो सकती है। जीवन में जन्म और जरा का चक्र चलता है। उस चक्र में भटकने वाले के प्रशमित भाव का अभाव होता है। अप्रशमित भाव जिसके जीवन में होता है वहां कषायों की उपशमता नहीं होती और जहाँ कषाय की भावना पनपती है, वहां मुक्ति नहीं है, किन्तु जहां मनुष्य से कपाय शांत हो जाता है, उस मानव को मुक्ति मिल सकती है। ज्ञानीजनों का कथन है कि 'कषायमुक्ति किल-मुक्तिरेव' जहां कषायों से मुक्ति है, वही मुक्ति है। कषाय से मनुष्य कर्मबन्धन करता है। सारे संसार–चक्र का आधार-मूल, कषाय है। जिस मनुष्य का आर्य भूमि में अवतरण हो और वह कषाय शमन के लिए सम्यक् साधना पर चल पड़ता है तो वहां संघर्ष, विघ्न, द्वंद्व भी खड़े होते हैं। परन्तु इन द्वन्द्वों से, विघ्नों से और संघर्षों से पराजित नहीं होते हुए अपनी मुस्तैदी चाल से गन्तव्य पथ पर आगे बढ़ता रहता है तो वह आत्मा इसी तन में सफलता के क्षणों को पा लेती है।

संघर्ष दो प्रकार का : बाह्य और भीतर

संघर्ष दो प्रकार के होते हैं, एक संघर्ष बाहरी होता है, बाहरी संघर्ष के लिए व्यक्ति एक-दूसरे के साथ भिड़ता है, एक–दूसरे को उत्तेजित करता है, इस उत्तेजना के प्रसंग से जिसको उत्तेजित किया जाता है, वह भी उत्तेजित होकर लड़ता है–वीरता धारण करता है, ऐसे प्रसंग—व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के धरातल पर होते रहते हैं, जहां राष्ट्रीय धरातल से जो व्यक्ति युद्ध करता है, वह योद्धा की संज्ञा से प्रचलित होता हैं, पुरुषों ने जैसे बाहरी पौरुष दिखाया, वैसे ही नारी जाति ने भी स्त्री शूरता दिखाई। झांसी की रानी की बात भी आप सुनते हैं । इस बाहरी संघर्ष में, युद्ध में–परिवार के अन्दर स्वयं के सदस्यों के साथ संघर्ष में व्यक्ति वीरता दिखाये इसमें कोई विशेषता की बात नहीं है, जिन्होंने बाहरी संघर्ष में वीरता दिखाई और प्रमाण-पत्र लिए, वे ही भीतरी संघर्ष में रोने लगते हैं–"हाय–हाय करने लगते हैं और पराजित होकर मनुष्य तन को व्यर्थ गंवा देते हैं।" ऐसे भी कई ऐतिहासिक रूपक मिल सकते हैं। सिकन्दर ने बहुत कुछ वीरता दिखाने की चेष्टा की–लूट-पाट की परन्तु मृत्यु के समय रो दिया और ग्लानि के साथ मनुष्य तन को हारकर परलोक की यात्रा पर चला गया, अतः बाहरी संघर्ष में विजयी हो जाना, शूरताई दिखा देना और बात है, परन्तु जब भीतर में सद्वृत्तियों के साथ दुर्वृत्तियों का संघर्ष चलता है और उसमें जो विजयी होता है, वही सच्चा वीर है, वही सच्चा संघर्ष है, उसके ही गुणगान किये जाते हैं।

वर्धमान से महावीर

भगवान् महावीर की वह गरिमामय स्थिति वीर शब्द से इसलिए संबोधित हुई कि वे अन्दर के संघर्ष में उतरे, बाहरी संघर्ष के बजाय भीतरी कर्मों से भयंकर युद्ध किया, जिनके संघर्ष में समता, समीक्षण की चरम परिणति के दर्शन होते हैं। भगवान् महावीर के कर्मों के लिए यह प्रचलन है कि सभी तीर्थंकरों के कर्म एक तरफ और महाप्रभु महावीर के कर्म एक तरफ थे. अर्थात् सबसे ज्यादा थे, फिर भी प्रभु संघर्ष में विजयी हुए, शारीरिक बल के साथ ही आत्मिक बल के कारण वर्धमान के बजाय महावीर के नाम से संबोधित किया गया। उन्होंने केवल ज्ञान और केवल दर्शन की दिव्य ज्योति प्रकट की और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भव्य

जीवों का उद्धार किया, उन्हीं की शासन परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान है। जिनके शासन में वर्तमान में भीतरी कर्मों के साथ संघर्ष कर समता–साधना के साथ साधक और साधिकाएं आत्म-प्रगति करते हुए परिलक्षित होते हैं।

समता का आदर्श : महाप्रभु का शासन

इसी संदर्भ में आज सेवाभाविनी श्री जतनकंवरजी को देखने का प्रसंग भी उपस्थित हो चुका है। सभी प्रकार की सुख–सामग्री होते हुए भी सब कुछ छोड़कर साधना के महापथ पर बढ़ते हुए महासतीजी ने इस जीवन से चिर प्रयाण कर दिया है। जिनके पास लुभावने दृश्य नहीं, घास-फूस की झोंपड़ी है और उनको कहा जाए कि अब तुम महाप्रभु महावीर के शासन में सम्मिलित हो जाओ, तो वे कोई शामिल होने को तैयार नहीं होते। कहते हैं कि हम मजदूरी कर लेंगे, परन्तु इसमें शामिल होनेकी शक्ति नहीं है। इस महापथ पर तो वीर आदमी ही गति कर सकता है। इस महापथ पर चलने वाले साधक के लिए सम्पन्नता या विपन्नता कोई महत्व नहीं रखती। अगर संयम लेकर भी अपनी सम्पन्नता का उसे अभिमान रह जाता है तो वह कभी भी सच्ची साधना नहीं कर सकता। महाप्रभु के शासन में सम्पन्न और विपन्न सभी एक समान सम्मान पाते हैं। भौतिक दृष्टि की सम्पन्नता–विपन्नता का भेद उनके शासन में नहीं रहता।

भेद विज्ञान की प्रतीक

स्वर्गीय महासती श्री जतनकंवरजी ने महाप्रभु के परम्परागत इस शासन में प्रवेश करके संयम साधना के साथ तपाराधना में भी विशेप प्रगति की थी। मास-खमण आदि की तपश्चर्या तो उनके लिए कोई महत्व नहीं रखती थी। अधिक से अधिक उन्होंने गर्म पानी के आधार पर ६६ की तपश्चर्या पर अपनी आत्मा को कुन्दन की भांति निखारने का सत्पुरुषार्थ किया। तपस्या के साथ ही सतीवर्ग की अग्लानभाव से सेवा भी वे तन्मयता से करती थीं। इससे उन्हें शरीर पर विशेष मोह नहीं था। इससे यह ज्ञात होता है कि महासतीजी आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान को लेकर चल रही थीं। इस भेद-विज्ञान को लेकर चलनेवाली आत्मा, व्याव-हारिक जीव का समीक्षण करती हुई आत्म-साधना के मार्ग को विशेष रूप से प्रशस्त

कर लेती है, महासतीजी के शरीर में कुछ कष्टसाध्य व्याधि उत्पन्न हो गई थी। उसे वह समभाव के साथ सहन कर रही थी। उदयपुर में महासतियांजी उनकी तन्मयता से सेवा करती थीं।

सेवा की समुचित व्यवस्था

सेवा की दृष्टि से इस संघ शासन में शांत क्रांति के जन्मदाता आचार्यश्री गणेशीलालजी म. सा. ने वहुत सुन्दर व्यवस्था दे रखी है। सभी साधु–साध्वी एक ही गुरु के शिष्य वनते हैं। कोई भी साधु–साध्वी स्वतन्त्र रूप से शिष्य–शिष्याएं नहीं वना सकता है। शिक्षा–दीक्षा, प्रायश्चित, चातुर्मास, विहार आदि सभी कार्य एक ही अनुशास्ता के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से वृद्ध सन्त–मुनिराजों एवं वृद्धा–महासतियांजी की सेवा करने की कोई समस्या नहीं है। भद्रिक सन्तों की सेवा में अच्छे विद्वान सन्त और भद्रिक सतियों की सेवा में अच्छी विदुषी सतियां तन्मयता के साथ सेवा करती हैं। अभी भी वीकानेर में वृद्ध सन्तों की धायमाता पद विभूषित कर्मठ सेवाभावी शासन प्रभावक श्री इन्द्रचन्दजी म. सा. आदि तन्मयता से सेवा कर रहे हैं। उसी प्रकार वीकानेर में महासतियांजी की सेवा में वारी–वारी से महासतियांजी पहुँचकर तन्मयता से सेवा कर रही हैं। जिनकी सेवा देखकर अनेक महानुभावों ने स्पष्ट कहा है कि ऐसी सेवा तो करोड़पतियों के घरों में भी नहीं हो सकती। आपको ज्ञात ही होगा कि सेवा के अभाव में प्रमोद मुनिजी पूर्व नाम प्रकाश मुनिजी पंजाव से अपने चालीस वर्ष का संयम छोड़कर गृहस्थ वन गये थे। वे जव मेरे पास आये और पुनः संयम लेने की उत्कृष्ट भावना दर्शाई तो उन्हें पुनः संयमित किया गया, जिनकी धायमातृपद विभूषित शासन प्रभावक इन्द्रचन्दजी म. सा. ने इस तन्मयता के साथ सेवा की, कर रहे हैं कि वे अव अच्छे संयमी साधक वन गये हैं। जिन्होंने ४० वर्ष की दीक्षा पर्याय में वेले से ऊपर तप नहीं किया था, वे वीस–वीस की तपश्चर्याएं, १०८–१०८ आयंविल आदि अनेक वार कर चुके हैं।

जतन ने किया आत्मा का जतन

सज्जनो! मैं वतला रहा था—महासतीजी के विषय में। उनके शरीर में एक वड़ा जहरीला फोड़ा हो गया था—वीकानेर में। डाक्टरों ने तुरंत आपरेशन करने

का परामर्श दिया। किन्तु महासतीजी की भावना रही कि मैं महाराज (आचार्यश्री के दर्शन किये बिना ऑपरेशन नहीं करवाती, तदनुसार वह ऐसी बीमारी में भी बीकानेर से विहार कर भीलवाड़ा पहुँची, वहां दर्शन करके उदयपुर गईं। कैंसर का सैंकिण्ड फार्म हो चुका था, जिस बीमारी में बड़े-बड़े व्यक्ति हायतोबा करते हैं, किन्तु महासतीजी के लिए सुनने को मिला कि वह शान्त-प्रशान्त अवस्था में वेदना सहन करती थीं। आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान का महासतीजी ने प्रेक्टिकल रूप उपस्थित किया। अन्त में महासतीजी ने संयम साधना के पथ पर चलकर समभाव की साधना के साथ नश्वर पिण्ड का परित्याग कर परलोक के लिए प्रयाण कर दिया। इस प्रकार जतन (महासतीजी) ने वस्तुत: शरीर का जतन न कर आत्मा का जतन किया।

जन्म एवं मृत्यु

महासतीजी के जीवन से सभी को प्रेरणा लेना चाहिए। संसार का यह शाश्वत नियम है कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है। अब तक संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ जिसने जन्म तो लिया हो, किन्तु मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। मृत्यु सभी की निश्चित रूप से होती है। जन्म के साथ ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। 'जन्म एवं मृत्यु:' जन्म ही मृत्यु है। जन्म के साथ प्रतिक्षण मृत्यु प्रारंभ हो जाती है। जो समय व्यतीत हो चुका है, वापस कभी नहीं आने वाला है। जिसने व्यतीत हो रहे क्षणों में धर्म किया है, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को समझा है, उसका समय सार्थक हो जाता है और शरीरासक्त होकर चलने वाले व्यक्ति का समय निरर्थक-असफल हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वयं महाप्रभु ने कहा है—

जा जा वच्चइरयणी, ण सा पडिणियओई।
अहम्मं कुणमाणस्स अहला जंति राईओ॥
जा जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिणियओई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सहला जंति राईओ॥

उत्त० १४—२४-२५

"कषायमुक्ति किलमुक्तिरेव"

बन्धुओं ! स्पष्ट है कि एक न एक दिन आप और हम सभी इस भौतिक पिण्ड को छोड़कर जाने वाले हैं, ऐसी स्थिति में आत्मिक स्वरूप को निखारने के लिए. कषाय मुक्ति के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। 'कषायमुक्ति किलमुक्तिरेव' कषाय का छूटना ही सही अर्थों में मुक्ति है। यह ध्यान रखना चाहिए कि कषाय हमारे भीतर, किसी भी रूप में रूपान्तरित होकर न आने पायें। हमें कषायों को निकालने के लिए सदा सतर्क रहना है।

कषायों के चक्र से आत्मलक्ष्य साधें

राधावेध करने के लिए मन की तन्मयता आवश्यक होती है। तन्मयता के विना राधावेध नहीं सधता। कौरवों में तन्मयता नहीं रह पाई तो वे राधावेध नहीं साध सके किन्तु अर्जुन, एकदम तन्मय हो चुके थे इसलिए वे राधावेध साधने में समर्थ हो गये। राधावेध से भी कठिन साधना है, आत्म लक्ष्य को साधने की। कषाय की पंखुड़ियाँ, जीवन में बड़ी तेजी से घूम रही हैं। इस बीच आत्मलक्ष्य का साधना दुसह जरूर है, असाध्य नहीं। एक बार भी जो कषाय से परे आत्म स्वरूप को पा लेता है, वह शाश्वत शांति पा लेता है।

मृत्यु को महोत्सव बनावें

मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जीवन को समीक्षण से अनुरंजित करना आवश्यक है। जब दृष्टि सम्यक् बन जाती है, जब आत्मा और परमात्मा को, स्वर्ग और नरक को, दु:ख एवं सुख को यथावत् रूप से देखने लगते हैं, तब आत्मा, मोह से हटकर आत्म-शान्ति की ओर बढ़ जाती है। जीवन के हर पहलू का समीक्षण करें। हर विचार का समीक्षण करें। कदम-कदम के साथ समीक्षण का पुट बनाये रखें तो जीवन समीक्षण से अनुरंजित होता हुआ एक दिन आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप को उजागर कर लेगा, ऐसी आत्मा कभी भी मृत्यु से डरने वाली न होगी। वह तो मृत्यु को महोत्सव मानकर खुशी-खुशी के साथ उसका वरण करने के लिए तत्पर रहेगी। वैसे आज व्याख्या का प्रसंग नहीं है। महासतीजी के जीवन को लेकर मैं शाश्वत सत्य का संकेत कर गया हूँ। जो भी इसे समझकर आगे बढ़ेंगे, उनका कल्याण होगा। □

साधना में सहायक गुरु की संप्रेक्षा : शिष्य की विनम्रता

- ☐ अन्तरंग के जीवन के लिए सहायक : महाप्रभु
- ☐ महाप्रभु की देशना आत्मशुद्धि में सेतु
- ☐ सहायक हो निपुणार्थ बुद्धि वाला
- ☐ गुरु के प्रकार और उनकी योग्यता
- ☐ गुरु, जो सभी को सन्तुष्ट करे।
- ☐ जिज्ञासा के साथ अविनय से हानि
- ☐ गुरु की संप्रेक्षा : शिष्य की विनम्रता

"कषायमुक्ति किलमुक्तिरेव"

बन्धुओं ! स्पष्ट है कि एक न एक दिन आप और हम सभी इस भौतिक पिण्ड को छोड़कर जाने वाले हैं, ऐसी स्थिति में आत्मिक स्वरूप को निखारने के लिए. कषाय मुक्ति के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। 'कषायमुक्ति किलमुक्तिरेव' कषाय का छूटना ही सही अर्थों में मुक्ति है। यह ध्यान रखना चाहिए कि कषाय हमारे भीतर, किसी भी रूप में रूपान्तरित होकर न आने पायें। हमें कषायों को निकालने के लिए सदा सतर्क रहना है।

कषायों के चक्र से आत्मलक्ष्य साधें

राधावेध करने के लिए मन की तन्मयता आवश्यक होती है। तन्मयता के बिना राधावेध नहीं सधता। कौरवों में तन्मयता नहीं रह पाई तो वे राधावेध नहीं साध सके किन्तु अर्जुन, एकदम तन्मय हो चुके थे इसलिए वे राधावेध साधने में समर्थ हो गये। राधावेध से भी कठिन साधना है, आत्म लक्ष्य को साधने की। कषाय की पंखुड़ियाँ, जीवन में बड़ी तेजी से घूम रही हैं। इस बीच आत्मलक्ष्य का साधना दुसह जरूर है, असाध्य नहीं। एक बार भी जो कषाय से परे आत्म स्वरूप को पा लेता है, वह शाश्वत शांति पा लेता है।

मृत्यु को महोत्सव बनावें

मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जीवन को समीक्षण से अनुरंजित करना आवश्यक है। जब दृष्टि सम्यक् बन जाती है, जब आत्मा और परमात्मा को, स्वर्ग और नरक को, दुःख एवं सुख को यथावत् रूप से देखने लगते हैं, तब आत्मा, मोह से हटकर आत्म-शान्ति की ओर बढ़ जाती है। जीवन के हर पहलू का समीक्षण करें। हर विचार का समीक्षण करें। कदम-कदम के साथ समीक्षण का पुट बनाये रखें तो जीवन समीक्षण से अनुरंजित होता हुआ एक दिन आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप को उजागर कर लेगा, ऐसी आत्मा कभी भी मृत्यु से डरने वाली न होगी। वह तो मृत्यु को महोत्सव मानकर खुशी-खुशी के साथ उसका वरण करने के लिए तत्पर रहेगी। वैसे आज व्याख्या का प्रसंग नहीं है। महासतीजी के जीवन को लेकर मैं शाश्वत सत्य का संकेत कर गया हूँ। जो भी इसे समझकर आगे बढ़ेंगे, उनका कल्याण होगा। □

साधना में सहायक गुरु की संप्रेक्षा : शिष्य की विनम्रता

- ☐ अन्तरंग के जीवन के लिए सहायक : महाप्रभु
- ☐ महाप्रभु की देशना आत्मशुद्धि में सेतु
- ☐ सहायक हो निपुणार्थ बुद्धि वाला
- ☐ गुरु के प्रकार और उनकी योग्यता
- ☐ गुरु, जो सभी को सन्तुष्ट करे।
- ☐ जिज्ञासा के साथ अविनय से हानि
- ☐ गुरु की संप्रेक्षा : शिष्य की विनम्रता

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे णिउणत्थबुद्धि ।
णिकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥

उत्तराध्ययन सूत्र ३२–४

समाधि के इच्छुक तपस्वी श्रमण एषणीय आहार की इच्छा करे, निपुणार्थ बुद्धि वाले सहायक की इच्छा करे तथा विवेक योग्य स्थान की इच्छा करे।

साधना सिद्धि के लिए योग्य आहार, निपुणार्थ बुद्धिवाला सहायक और विवेक योग्य स्थान आवश्यक है। जब त्रिपुटी का संगम होता है तो आत्मा की विशुद्धि सहज हो जाती है।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगम धर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे,
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे॥

बन्धुओ! आध्यात्मिक विकास के लिए योग्य सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। जीवन के बाहरी रूप को सजाने के लिये बाहरी संस्कार देने वाले बहुतेरे मिलेंगे, परन्तु भीतर को सजाने वाले विरले ही मिलेंगे। बाहरी साज-सज्जा शरीर की है। उसके लिए कोई भी शिक्षक न भी हो फिर भी व्यक्ति, एक दूसरे को देखकर बाहरी संस्कार सीख जाता है। बच्चा जहां घर में है, अभी वह शिक्षण के योग्य नहीं है; परन्तु माता-पिता के व्यवहार को वह देखता है और वैसी नकल करता है, वैसे ही संस्कार पा लेता है। परन्तु भीतर के संस्कार ऐसी सरलता से प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। शरीर के भीतर में जो आत्म-शक्ति है, उससे परम सुख और परमशांति का अनुभव होता है, वैसी शक्ति को प्रकट करने के लिए सहायक की नितान्त आवश्यकता है।

अन्तरंग के जीवन के लिए सहायक : महाप्रभु

भगवान् महावीर ने अपने केवलज्ञान होने के बाद जनता को उपदेश देकर उसकी सहायता की। यदि वे वीतराग वचन उच्चारित नहीं करते, अपने अन्दर में रहने वाले वीतराग-भावों को प्रकट नहीं करते तो हम आज आत्मस्वरूप के विषय में चर्चा भी नहीं कर पाते। जैसे कि हम अन्य समाज के व्यक्तियों को देखते हैं—उनके यहां ऐसे प्रयोग नहीं होने से कभी वे पुस्तकों के माध्यम से या सुनी-सुनाई हुई बातों को दोहराते हैं। परन्तु व्यवस्थित आत्मा को समझाने का कार्यक्रम उनके पास नहीं रहता। जबकि तीर्थंकर के शासन में जो शास्त्र उपलब्ध हैं उनमें वह व्यवस्थित कार्यक्रम भव्य तरीके से आपको मिलेगा। इस व्यवस्थित कार्यक्रम को समझाने के लिए शास्त्रों का सहयोग तभी उनके लिए कामयाब हो सकता है जबकि उन शास्त्रों को समझाने वाला हो। शास्त्र स्वयं बोलकर नहीं समझा सकते हैं। शास्त्रों में अक्षर हैं, लिपि हैं, पन्ने हैं। हजारों शास्त्र भी यदि किसी मनुष्य के सामने रख दिये जायें तो क्या मनुष्य उन शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त कर सकेगा? नहीं।

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहिले लिपि सीखनी पड़ेगी, व्याकरण सीखना पड़ेगा और ज्ञानियों का किया हुआ अनुवाद देखना होगा। इतने पर भी शब्दार्थ कर लेंगे, परन्तु शास्त्र का रहस्य उनको नहीं मिल पाएगा। जहां शास्त्र के ज्ञान की स्थिति है, वहां पर भी किसी न किसी व्यक्ति की आवश्यकता है। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन के अन्दर गुत्थियों को सुलझाने के लिए, आध्यात्मिक शान्ति को प्रकट करने के लिये बहुत बड़े महत्वपूर्ण सहायक की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना करके बहुत बड़े सहायक का आदर्श उपस्थित किया।

महाप्रभु की देशना : आत्मशुद्धि में सेतु

महाप्रभु ने भव्यात्माओं के आंतरिक जीवन को स्वच्छ बनाने के लिए देशना का अमीय निर्झर प्रवाहित किया था। उसी अमीयधारा में महाप्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा—

आहार मिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे णिउणत्थबुद्धिं।
णिकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी॥
उत्त० ३२-४

इस गाथा में साधक को साधना पथ में प्रवेश कर, अन्तरंग जीवन का संशोधन-समीक्षण करने लिए संकेत रूप में विधि-प्रणाली बतलाई गई है।

जिस शरीर से साधना की जाती है, उस शरीर का संरक्षण भी आवश्यक है। शरीर स्वस्थ नहीं रहने पर मन भी स्वच्छ नहीं रहता है।

अन्दर की ध्यान प्रक्रिया, अन्दर का ज्ञान और अन्दर की शक्ति को विकसित करने के लिए मनोबल की विशेष आवश्यकता है। मनोबल शरीर बल पर ज्यादा आधारित होता है और शरीर अस्वस्थ है तो मन भी कमजोर बन जाता है। शरीर बलवान है तो मन भी बलवान रहता है। शरीर को भोजन देते हैं तो मन को भी बल मिलता है। आंतरिक खोज करने में शरीर को आहार की भी अपेक्षा रहती हैं। वह आहार भी कैसा हो? उसके लिए शास्त्रकार ने निर्देश दिया कि—

'आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं'

आहार उतना ही लें जितनी आवश्यकता हो और वह भी ऐपणीय आहार होना चाहिये। एषणीय का मतलव है साधु के लिए 42 दोष. मांडलिक दोप सहित 47 दोष वताए हैं, उन दोषों को टाल करके जो आहार ग्रहण करता है, वह एपणीय आहार कहलाता है। उसके लिए उसको छानबीन-खोज करनी पड़ती है।

सहायक हो निपुणार्थ बुद्धिवाला

जब साधना का कार्यक्रम प्रारम्भ होता है; शरीर के माध्यम से, तव शरीर को आवश्यक खुराक मिलने पर मन ही थोड़ा स्वस्थ रहता है। परन्तु मन की खुराक देने के लिए सिर्फ इस आहार से काम नहीं चलता। मन की खुराक किसी मनस्वी व्यक्ति से ही मिल सकती है। वह मनस्वी व्यक्ति निपुण अर्थ की बुद्धिवाला हो। निपुण अर्थ को समझाने में जिसकी बुद्धि प्रखर हो और यदि ऐसी बुद्धि निपुण नहीं है तो वह सहायता नहीं दे सकता है। निपुण अर्थ की बुद्धिवाले की तुम सहायता लो जिससे तुम्हारी सब गुत्थियां सुलझ जाएं। तुम्हारे मन की सारी उलझने समाप्त हो जायें। जीवन की समस्याओं का हल हो जाए और शांति के क्षण उपस्थित हो सकें। इसी प्रसंग को उपस्थित करने के लिये शास्त्रकारों का संकेत गुरु के लिए भी आया कि वह निपुण अर्थ बुद्धिवाला गुरु होता है।

गुरु के प्रकार और उनकी योग्यता

गुरु भी चार प्रकार के माने गए हैं। एक तो नाम के गुरु। किसी व्यक्ति का नाम गुरु रख दिया—जन्म से गुरु हैं—तो 'गुरु' कहकर वुला लेते हैं। एक गुरु वह कि जिसने गुरु की पोशाक पहिन ली परन्तु गुरु के गुण नहीं हैं। एक गुरु वह कि आत्मा तो चली गई परन्तु शरीर पड़ा है। ऐसे नाम है, शरीर है, पोशाक है परन्तु उससे क्या बोध पा सकोगे ? ऐसे गुरु को तो ज्यादा देर मकान में रखना भी पसन्द नहीं करोगे। जहां पहिले लम्बी-चौड़ी विनीतता करके—विनती करके सन्तों को ले जाते थे, सत्कार-सन्मान करते थे, वन्दन करते थे परन्तु जव उनकी आत्मा चली जाती है, तब फिर उस शरीर का सत्कार-सन्मान किस रूप में करोगे ? फिर तो उनको जल्दी से जल्दी ले जाकर चन्दन की लकड़ियें लाकर जला देते हो। क्योंकि उससे अब बोध मिलने वाला नहीं है। तीन तरह के गुरुओं से कुछ होता

नहीं। परन्तु तीनों की स्थिति हो चौथे में, नाम हो, आकार हो, पिण्ड हो और चेतना के साथ गुरु पद की गरिमा भी हो, जो हमारी समस्त समस्याओं को हल कर सके। व्यक्ति के सामने वर्तमान में कई समस्यायें आती हैं और कुछ ऐसी उलझनें बन जाती हैं कि वह निश्चित रूप से शांति महसूस नहीं कर पाता। किन्तु कभी-कभी ऐसी समस्याओं का हल निपुण अर्थ बुद्धिवाले गुरु के पास जाते ही स्वतः हो जाता है। उसके लिए कविता की कड़ी में भी संकेत आया कि '**आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे**' भाई! तू जिस गुरु की खोज कर रहा है वह आगमधर समकिती होना चाहिये। आगमधर-आगम-ग्यारह अंग और बारह उपांग-इनको धारण करने वाला होना चाहिये। अर्थात् वह आगम के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिये। यदि रहस्य ज्ञात नहीं, केवल कंठस्थ ही है, शास्त्र के बिना पन्नों के तो बोल दे परन्तु उसको पूछा जाए कि इसका क्या रहस्य है? तो कहे कि रहस्य याद नहीं है। तो वह आगमधर भी विशेष काम नहीं कर सकता है। यह मस्तिष्क भी एक तरह से टेप है। व्यक्ति याद करना चाहे तो कर सकता है और याद किए हुए को धड़ाधड़ बोल देगा। टेप में जैसा भर दिया जाए और उसको चालू कर दिया जाए तो जो भरा है वह हूबहू बोल देगा। टेप अशुद्धि नहीं करेगा। परन्तु इससे कोई गर्ज नहीं सरती। आगमधर का मतलब है कि जिसने आगम के रहस्य को जीवन में उतार लिया। आगम क्या बताता है? आगम में दो शब्द हैं। आ+गम/ यह व्याकरण से शब्द की व्याख्या है। 'आ' का मतलब होता है—आ–समन्तात् यानि चारों तरफ से और गम का अर्थ है बोध। चारों तरफ के बोध का मतलब हो गया कि इस जीवन का चारों ओर से ज्ञान हो। फिजीकल बॉडी–भौतिक शरीर की दृष्टि से भी ज्ञान हो, मनो-विज्ञान और शरीर विज्ञान का भी कुछ बोध हो। आध्यात्मिक-व्यवहार का भी ज्ञान हो, लौकिक व्यवहार का भी ज्ञान हो, स्वमत और परमत का भी ज्ञान हो। ये सारे ज्ञान हो और इसके साथ ही समन्वयात्मक दृष्टि से, तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करता हुआ वीतराग देव का निष्कर्ष-मक्खन अपने जीवन में ढालता हो और सामनेवाले व्यक्ति को जैसी योग्यता हो, वैसा बोध देता हो, वीतराग देव के सिद्धान्त की तरफ मानव-जाति का आकर्षण करने में समर्थ हो, वह सही रूप में आगमधर है।

गुरु जो सभी को सन्तुष्ट करें

श्रोता चाहे देश या विदेश के हों, परन्तु जो ऐसा पवित्र सिद्धान्त सुनते हैं उनकी जिज्ञासा बनती है और वे कभी और आकर पूछें तो, उनके मस्तिष्क में अपने

समझे हुए सिद्धान्त भरे होते हैं—विज्ञान के मस्तिष्क वाले हैं, तो विज्ञान के सिद्धान्त भरे रहते हैं, उनके सामने आध्यात्मिकता की बात कही जाएगी तो वह विज्ञान को सामने लाएंगे, परन्तु समझाने वाला यदि विज्ञान का मर्म नहीं जानता तो वह बढ़िया से बढ़िया सिद्धान्त को भी विज्ञान की कसौटी पर कसकर नहीं समझा सकेगा। यदि विज्ञान का मर्म उनके ख्याल में है तो उसी विज्ञान के माध्यम से आध्यात्मिक विज्ञान का रस उसमें भर देंगे। उसकी आत्मा कल्याण करने में समर्थ हो जाएंगे और यदि कोई व्यक्ति शरीर विज्ञानवाला आ गया तो वह पूछना चाहता है कि वर्तमान में मैं शरीर से तन्दुरुस्त रहना चाहता हूँ। मेरे मस्तिष्क का टैंशन दूर हो—यह बात वह जानना चाहता है। परन्तु यदि उनके गुरु को ज्ञान नहीं है और उनके सामने आगम के महत्वपूर्ण रहस्य की बात आ गई तो कोई भी बात उसके कुछ पल्ले नहीं पड़ेगी। उसे बोध देने के लिए शरीर विज्ञान समन्वित अध्यात्म का ज्ञान आवश्यक है। जब कोई मनोविज्ञान की बातें भरकर आया है तो उस आगमधर गुरु का कर्तव्य होगा कि मनोविज्ञान के नाते भी उसको आगम का बोध करा दे। यदि कोई किसी मत-परमत को लेकर आया है तो आगमधर यदि उसके मत की बातों को जानते हैं तो उसके सिद्धान्त से ही वीतराग देव के सिद्धान्त को बता देंगे। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा कि गुरु पद पर पहुँचना चाहते हो तो बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आता है। ऐसा नहीं चलता कि—

कान्यामान्याकुर, तू चेला मैं गुर।
नारेल रुपया पाट पे धर, चाहे डूब चाहे तर॥

गुरु में, ऐसी स्वार्थ वृत्ति नहीं आनी चाहिए। जहां स्वार्थ आया नहीं कि वह सत्य बात नहीं कह सकेगा। स्वार्थ कई तरह के होते हैं। जहां निपुण अर्थ वाले गुरु का सहयोग नहीं मिलता है तो साधक अज्ञान अन्धकार में ही भटकता रहता है। वह कभी इधर और उधर हाथ मारता है। शास्त्रकार ने बहुत मार्मिक बात बताई है। ये बातें आध्यात्मिक जीवन में ही लागू होती हैं, ऐसी बात नहीं है। आप व्यावहारिक क्षेत्र में भी सोचिए कि आप यदि अपने बच्चे को अक्षरीय ज्ञान देना चाहते हैं तो उसको किसके पास भेजेंगे ? अरे ! व्यावहारिक गुरु, मास्टर, अध्यापक हैं। उनके पास भेजेंगे तभी वह अक्षरीय ज्ञान सीख सकता है, कालेज में डिग्रियां प्राप्त कर कोई डॉक्टर, वकील बन सकता है। यदि डॉक्टर होना है तो उसको पहिले किसी अच्छे अनुभवी डॉक्टर के पास रहना पड़ता है, तभी वह डॉक्टरी में कामयाब हो सकता है। किसी को अच्छा वकील बनना है तो उसे किसी अनुभवी

वकील के पास रहकर उसका अनुभव लेना होता है। व्यापारी के बच्चे स्कूल में व्यापार की बातें सीख लें, परन्तु अनुभवी पिता के पास या अनुभवी व्यापारी के पास नहीं बैठते, तब तक व्यापार का पूरा अनुभव नहीं कर पाते। और तो दूर रहा, कृषक-खेती करने वाला मनुष्य सोचता है कि इसमें क्या है? ऐसे खोद लेंगे, ऐसे दाने डाल देंगे, परन्तु ऐसे नहीं होगा। जब वह किसी अनुभवी कृषक के पास अनुभव करेगा, तभी खेती कर सकेगा। संसार के कार्यों में किसी न किसी व्यक्ति की आवश्यकता रहती है, कोई जन्म से सीखकर नहीं आता पर स्वच्छन्द प्रवृत्ति से चलने वाला धोखा ही खाता है।

जिज्ञासा के साथ अविनय से हानि

एक प्रसंग है, संत लोग कभी—कभी कहा करते हैं, करोड़पति घर में जन्म लेनेवाली एक कन्या, बड़े लाड़ प्यार से पली, शिक्षा तो बहुत प्राप्त करली, परन्तु प्रेक्टीकल अनुभव प्राप्त नहीं किया, पिता के यहां ऐसा अनुभव करने का प्रसंग नहीं आया। बातें जरुर सुनती थी परन्तु कर नहीं पायी। लाड़ प्यार की स्थिति ऐसी ही होती है। जो माता-पिता अपनी सन्तान को ज्यादा लाड-प्यार से रखते हैं, वे सन्तान के लिए कभी दुश्मन बन जाते हैं। खाने-पीने का लाड़ किया जा सकता है। परन्तु जहां संस्कारों की स्थिति का प्रसंग है, वहां लाड़ किया तो वह घातक सिद्ध होता है।

कभी-कभी मेरे भाई-बहन नवीन बीन्दणी और भाई को लाकर खड़ा करते हैं तो हम कहते हैं, सामायिक करो तब बीन्दणी बोले या नहीं, परन्तु सासू बोल उठती है, नहीं महाराज, अभी बच्ची है। तब मैं कह देता हूँ कि क्या खाने-पीने का नुकसान हो रहा है, सामायिक में तो संस्कार अच्छे होते हैं। यह तो पहले ही सीख लेना चाहिये। इसमें क्या कोई कष्ट पड़ता है? घण्टा भर के लिए सामायिक लेकर बैठे तो क्या हो गया? भूखा मरना पड़ा? मैं तो उसी वक्त कह देता हूँ, लाड़ करना हो तो दूसरी चीजें बहुत हैं पर यह कौनसा लाड़ है?

उस लड़की की भी करोड़पति घराने में शादी कर दी। उसको बड़ा अभिमान था कि मैं विदुषी हूँ, मेरे जैसा कौन विद्वान् हो सकता है। वह ससुराल पहुँची और संयोग की बात है कि ससुराल वालों ने भी सोचा—यह बड़े घर की कन्या

आयी है तो इसको लाड़ प्यार से रखो, सासूजी ने भी लाड़ प्यार किया, अतः यहां भी वह घर का काम करना नहीं सीख पाई। सासूजी संसार से विदा हो गई। वहू को न पीहर में और न ससुराल में खाने-पीने की चीजें बनाने की शिक्षा देने वाला कोई मिला। क्योंकि अभी तक का जीवन लाड़-प्यार में ही गुजारा था। घर के सदस्यों ने कहा कि सासूजी तो चली गई हैं ! अब तुम्हें ही रसोई बनाने का कार्य करना है। रसोई अच्छी तैयार करना। जो चीज तुम्हें नहीं आती हो, तो पड़ोस में वूढ़ी मांजी हैं उनसे पूछ लिया करना। तब वहू कहती है कि मैं सब जानती हूं। अपने अभिमान की डींग मारकर ऐसा कह देती थी और फिर जाती थी। पड़ोसन मांजी के यहां जाती और कहती, बाईजी ! रोटी कैसे बनाई जाती है, फुलके कैसे सेके जाते हैं ? तो बुढ़िया सब कुछ सिखा देती थी। परन्तु सीखकर पीछे से कहती कि बाईजी, यह तो मैं भी जानती हूं। तब पड़ोसन कहती कि कोई बात नहीं। फिर कभी जाती और पूछती कि लापसी कैसे बनाई जाती है। तो मांजी बता देती कि ऐसे बनाते हैं। परन्तु तरकीब पूछ कर हमेशा कह देती कि यह तो मैं भी जानती हूं। वह अपनी कमजोरी को छुपाने के लिए ऐसा कह देती। एक दिन पड़ोसन ने सोचा--यह हरेक चीज मुझ से सीखकर जाती है और यह कह देती है कि यह तो मैं भी जानती हूँ और किसी प्रकार का एहसान भी नहीं मानती है कि आपने मुझे यह तरकीब बतायी है। तो एक दिन उसके यहां बाहर के मेहमान आए हुए थे। घर के सदस्यों ने कहा कि आज बढ़िया हलवा और खीर बनानी है। तो उसने कहा कि हां बना दूंगी। मैं सब बनाना जानती हूँ। फिर सोचा कि मैं जानती तो हूँ नहीं और टाइम पर सब जीमने के लिए आ जायेंगे। वह मौका निकालकर झट पड़ोसन के यहां गई और कहने लगी बाईजी ! हलवा और खीर कैसे बनाते हैं ? तो पड़ोसन ने कहा बहूजी ! हलवा बनाने के लिए आटा और घी तो चाहिये ही और मीठा भी चाहिए। गुजरात में मीठा नमक को बोलते हैं। तो उसने झट से कहा कि हां। मांजी ने मीठा नमक की तरफ इशारा कर दिया और तब इसने कहा कि हाँ""हाँ यह मैं भी जानती हूँ। फिर पूछा कि खीर कैसे बनाई जाती है। तो कहा—दूध में चावल पकाकर शक्कर डालकर खूब रडाना और फिर उसमें थोड़ीसी रेत डाल देने से अच्छी बन जाती है। वहू ने कहा—धन्य हो मांजी। यह तो मैं भी जानती हूँ। अब उसने घर आकर जल्दी से हलवा और खीर-पुड़ी, सब्जी वगैरह सब चीजें तैयार कर लीं। परन्तु पड़ोसन की बताई वात को नहीं भूली। उसने वैसे ही हलवे में नमक और खीर में रेत भी डाल दी। अब मेहमान और घर के सदस्य सब जीमने बैठे, तो हलवा खारा लगा और खीर में रेत आई। तो लोग कहने लगे कि यह क्या कर

दिया ? घर की इज्जत मिट्टी में मिल गई। हमने कहा था जो कि चीज बनानी नहीं आये तो मांजी से पूछ लिया करो। तब उसने कहा कि मैं तो पूछकर आई और उन्होंने जैसा कहा उसी के मुताबिक मैंने हलवे में नमक और खीर में रेत डाल दी। तब घर के सदस्यों ने पड़ौसन से जाकर कहा बाईजी ! आपने यह क्या बता दिया ? हमारे सारे मेहमान भूखे ही उठ गए। तब उस बुढ़िया ने कहा–भाई ! मैं क्या करूं ? मैं तो जब यह पूछने आती तो सही रूप में हर चीज को बनाने की तरकीब बता देती, परन्तु यह पूछकर हमेशा पीछे से कह देती कि यह तो मैं भी जानती हूँ। तो इस बार मैंने इसकी जानकारी की परीक्षा लेने की दृष्टि से ऐसा कह दिया था और इसने वैसे ही कर लिया। इसमें कुछ अभिमान की मात्रा है। तो बन्धुओ ! जो व्यक्ति काम करने में अभिमान करता है और सोचता है कि मैं कैसे पूछूं ? यह तो अभिमान का चिह्न है। वह सारे काम बिगाड़ देता है। यह वृत्ति जिसमें होती है वह किसी का सहयोग नहीं ले सकता है। इस संसारी कार्य में भी नहीं लेता है तो अध्यात्म में आगमधर गुरु समकिति का सहयोग कैसे लेगा ?

गुरु की संप्रेक्षा : शिष्य की विनम्रता

सुसाधना के पथ पर बढ़ने वाले साधक को निपुणार्थ बुद्धिवाले गुरु की आवश्यकता हैं। जो प्रतिभा से तो उद्भट-प्रखर हो ही, साथ ही विवेक योग्य अर्थात् बाह्य और अन्तरंग से विशुद्ध स्थान में रमण करने वाले हों। जिनके अंतरंग में परमात्म स्वरूप का जागरण चल रहा हो, बाह्य जीवन में—आचरण की परिधि में साधना व्यवस्थित रूप से चल रही हो, ऐसे परम सहायक गुरु का वर्तन समीक्षण साधना से अनुरंजित होता है। वे बाहर और भीतर दोनों का समीक्षण करते रहते हैं। ऐसी संप्रेक्षा करने वाले गुरु के सानिध्य में रहकर ही शिष्य साधना पथ पर निरन्तर प्रगति कर सकता है। गुरु के साथ सच्चे जिज्ञासु शिष्य में भी विनम्रता आना आवश्यक है।

गुरु के सान्निध्य में : समीक्षण हो जीवन का

- ☐ अज्ञानतिमिर विनाशक गुरु
- ☐ बाहर से ज्यादा दुःख भीतर का
- ☐ समीक्षण के साथ वर्तन हो
- ☐ समीक्षण : जीवन के व्यवहार में आवे
- ☐ पुणिया और उसकी सामायिक
- ☐ जीवन का समीक्षण इस प्रकार हो

सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि
उत्तराध्ययन सूत्र ३२–४

जीवन की गहराइयों में उतरने के लिए निपुणार्थबुद्धि वाले गुरु की आवश्यकता है, जो जन-मन के अज्ञानांधकार को दूर कर, ज्ञान का अभिनन आलोक भरने में समर्थ हो ! जिस गुरु के माध्यम से अन्तरंग का यथोचित समीक्षण कर जीवन के बाहरी और अन्तरंग दोनों अंगों को सजाया जा सकता है ।

समीक्षण साधना, वह साधना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी समस्त ग्रन्थियों को विमोचित कर परमानन्द का वरण कर सकता है ।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे,
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे।

बन्धुओ! कवि ने शांति के स्वरूप को जानने एवं देखने के लिए अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। जानना और देखना ये जीवन के दो मुख्य व्यापार हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि जब भली बातें जान लेता है और उसके अनुरूप देखने की क्षमता ले आता है तो उसका जीवन आलोक से भर जाता है। जाने बिना और तदनुरूप आचरण किए बिना देखना नहीं होता। जानना और जानने के बाद जानी हुई अवस्था का अनुसरण करना—तदनन्तर समीक्षण करना। बिना आचरण किए यदि कोई देखना चाहे तो वह सही तरीके से देख नहीं पाता। अतः देखने के साथ आचरण का विशेष महत्व देने वाले महानुभाव ऐसे ही व्यक्ति की खोज में रहते हैं जो स्वयं जानता हो, तदनुरूप देखकर आचरण करता हो। उस व्यक्त की समीपता से जिज्ञासु व्यक्ति भी इस कला को समझ सकता है।

अज्ञानतिमिर विनाशक गुरु

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने समाधि चाहने वाले, परम शांति चाहने वाले के लिए, साधु के लिए निर्देश दिया—"सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि'। हे भव्य! यदि तू जीवन में समाधि यानि स्थायी रूप से शांति चाहता है तो उसके अनुरूप जानकारी कर और आचरण के क्षणों में पहुँच। इसके लिए अपने साथी का चयन कर जो निपुण अर्थ की बुद्धि को धारण करने वाला हो। ऐसे साथी की पूर्ति के लिए कवि ने कविता के अन्दर संकेत दिया, जो कि समाधि-शांति का दूसरा सोपान है। उसमें कहा है कि—'आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे' ऐसे महान् अर्थ को ग्रहण करने वाली बुद्धि, गुरु के चरणों में प्राप्त हो सकती है और उदाहरण आनन्दघनजी ने दिया कि जहां आगम के अर्थ को धारण करने वाले गुरु हों। आगमधर की कल मैं व्याख्या कर गया था। आगम के व्याकरण की दृष्टि से दो हिस्से हो जाते है आ+गम=आगम। 'आ' का अर्थ किया गया—जो समग्र ओर

से जानता हो, देखता हो और वह जानना भी अनुभूति के साथ हो, साथ ही अन्दर की शक्ति को प्राप्त करके देखने की क्षमता रखता हो। गम का अर्थ ज्ञान है और ज्ञान की दो शक्तियां हैं—जानना और देखना। तो हम जान सकते हैं और देखने की स्थिति से देख सकते हैं। इस विशेषण के बाद विशेषण है 'गुरु'। उसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा कि—

गुशब्दस्त्वंधकारः रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अंधकारः निरोधित्वात्, गुरुशब्दइत्युच्यते ॥

'गु' का अर्थ है अन्धकार और 'रु' का अर्थ है निरोध। जो अन्धकार का निरोध करता है, वह गुरु पद को प्राप्त कर लेता है। द्रव्य अन्धकार को निरोध करने वाला तो सूर्य भी है। परन्तु वह सूर्य द्रव्य अन्धकार को हटाता है—भाव अन्धकार को नहीं। सूर्य के आजाने पर, अन्धकार के हट जाने पर, बाहर की वस्तुएं दिख जायेंगी, परन्तु मनुष्य का भीतरी जीवन देख नहीं पायेंगे, क्योंकि भीतर में बहुत घना अन्धकार है। इस लिए बाहर सूर्य की स्थिति कितनी ही दिखती हो—उसका कोई प्रश्न नहीं। बाहरी दृष्टि से भले ही अन्धकार हो: परन्तु जिसके भीतर की रोशनी जग गई हो और भीतर में देखता हो, वह व्यक्ति गुरु पद की स्थिति से आगमधर कहला सकता है। भीतर का अन्धकार जहां समाप्त हुआ नहीं कि निर्विकार दशा का प्रादुर्भाव हो जाएगा।

बाहर से ज्यादा दुःख भीतर का

विकार-काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा ये सब अन्दर के अन्धकार हैं। परन्तु व्यक्ति इनके अधीन होकर किस प्रकार ठोकर खाता है? वह स्वयं कैसे दुखी होता है? और दुनिया को कैसे दुखी करता है? यह आज प्रत्यक्ष जीवन में देखा जा सकता है। आज के जनमानस में भाई और बहिनों के जीवन में दुःख किस बात का? बाहरी पदार्थों का जितना दुख नहीं उतना भीतरी जीवन का दुख है। उनमें एक दूसरे व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या अथवा एक-दूसरे व्यक्ति के मन में खोटे विकल्प, विकारी भावना, एक दूसरे को दबाने की चेष्टाएं—जिनके मन में जगती हैं और जिन-जिन भावनाओं को जगा चुके हैं, उन-उन भावनाओं को सफलीभूत नहीं बना सके तो आप में दुखी होते हैं और यदि सफलीभूत हो जाते हैं तो दूसरों को दुखी

कर देते हैं । खाने-पीने की चीजें भले ही स्वल्प मिले. पहिनने, ओढ़ने की दृष्टि से पूरे वस्त्र न भी मिलें, परन्तु सौहार्द्र, प्रेम की भावना है तो वह परिवार स्वर्ग सुख का अनुभव करता है । खाने-पीने की दृष्टि से पांचों पकवान मिले, वढिया भोजन मिले, पहिनने की दृष्टि से अच्छे वढ़िया वस्त्र मिले, शयन के लिए अच्छा वढ़िया पलंग मिले, गद्दी-तकिए मिले परन्तु मानसिक शांति नहीं मिलती, मन में सन्तोष नहीं, विद्वेष की ज्वालाएँ सुलग रही हैं तो वह व्यक्ति कष्ट का अनुभव करेगा । वहां उसके लिए अन्धकार है । वाहरी अन्धकार में जितना कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता है, उतना ही वह भीतर के जीदन में कष्ट का अनुभव करता है । उसको मिटाने की क्षमता साधना के वल से ही आ सकती है । जो साधना में तत्पर रहता है और साधना के क्षणों में केवल देखने की स्थिति नहीं रखता है, परन्तु वह अपने जीवन को शुद्ध रूप में, सम्यक् रूप में रखते हुए नित्य साधना में रमण करता है, वह सच्ची शान्ति को पाने में एक दिन सफल हो जाता है ।

समीक्षण के साथ वर्तन हो

सच्चे गुरु का सम्पर्क पाकर साधना करने वाला व्यक्ति निश्चित सफल होता है । साधना के लिए ध्यान और मौन की विधि भी वताई जाती है । अन्दर देखने का माध्यम ध्यान है । समीक्षण ध्यानसे टैन्सन–मुक्ति के साथ आत्मशांति भी प्राप्त होती है । लेकिन वह कव ? जव उसका प्रयोगात्मक रूप सधे । वहां सम की स्थिति का प्रसंग है । और समता आई नहीं कि भीतर का अन्धकार मिटा नहीं । इस समता रूप ईक्षण की दृष्टि पैदा करने के लिए साधना का क्षेत्र तीर्थंकर देवों ने वताया है । उन्होंने ही साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों तीर्थ की स्थापना की । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का पद वहुत ऊंचा पद है । तीर्थपद भी छोटा नहीं है । मनुष्य सोचता है कि तीर्थ यात्रा के लिए जायें । परन्तु तीर्थंकरों ने वाहर जाने की स्थिति का जितना प्रावधान नहीं रखा उतना भीतरी जीवन की स्थिति से प्रावधान रखा है । उन्होंने कहा तुम स्वयं तीर्थ हो । अरे ! जो स्वयं तीर्थ है, वह कहां जाएगा ? इसी तीर्थ की गरिमा को लेकर चतुर्विध-संघ चले और वह अपनी समाधि को पाने के लिए योग्य व्यक्ति की समीपता से अज्ञान अन्धकार को दूर करे । ज्ञान की रोशनी जानने के लिए है और समता की रोशनी जीवन का आचरण-व्यवहार है । जव ज्ञान से जानता है और समता की परिधि

में आचरण करता है तो उसके अन्दर सम्यक् रूप से देखने की शक्ति स्वयं प्रकट होती है। तब वह ठीक तरह से देख सकता है। वह जानने और देखने का धनी बन जाता है। साधक अपने आपके अन्दर यह देखे कि जानने की स्थिति के साथ समता की स्थिति लेकर वह कितना चल सका ? श्रावक भी बना तो जानने की स्थिति के साथ वह समता की स्थिति कहां तक प्राप्त कर सका ? इस प्रक्रिया में समीक्षण ध्यान का प्रसंग व्यक्ति के लिए सहज जुट जाता है। श्रावक के लिए प्रतिदिन का कुछ न कुछ अनुसन्धान दिया है। चौबीस घन्टे लिए वह सामायिक नहीं कर सके तो कम से कम एक घन्टे के लिए तो साधना अवश्य करे और एक घन्टे में वह इस जीवन को कैसे ढालना ? इसका विधि विधान बनाकर चौबीस घन्टों में जीवन में चलने वाले प्लान के साथ जोड़ दे तो जो एक घन्टे के जीवन में खुराक मिली उसका असर कम से कम चौबीस घण्टे अवश्य बना रहेगा। शरीर को चौबीस घन्टे काम काम करने के लिये खुराक की आवश्यकता है, और मनुष्य खुराक लेता है। एक वक्त खुराक यदि ठीक तरह से पेट भरकर ले तो कितना समय लगे ? बीस मिनट लग सकते हैं। कोई एक टाइम ही खाता हो तो उसको खूब चबाकर खाने में चालीस मिनट भी लग सकते हैं। जिस प्रकार जो एक वक्त खाता है, उसे उससे चौबीस घन्टे तक ताकत मिलती है। उसी प्रकार आत्मा को एक टाइम भी अच्छी तरह भोजन दे दिया जाए और उसके बाद उसकी जीवन चर्या चले तो उसे समता की मंजिल पर चढ़ने में समय नहीं लगेगा।

समीक्षण जीवन के व्यवहार में आवे

आज के युग में व्यक्ति किसी न किसी रूप में समय तो व्यतीत करता ही है। लेकिन वह समय सार्थक नहीं होता, परन्तु जो आत्मा को खुराक देने के लिए आता है, पर उसने खुराक दी या नहीं ? वह खाने को तो बैठ गया परन्तु एक निवाला भी लिया या नहीं ? या उटकर चला गया—यह तो उसको ही मालूल हो सकता है। दुनियां को तो इतना ही मालूम होता है कि उठकर चला गया। परन्तु जब शरीर में कमजोरी मालूम होगी तब मालूम होगा। वैसे ही घंटे भर की साधना चाहे मनुष्य सामायिक के रूप में करे अथवा स्वाध्याय के रूप में करे, या किसी भी उपासना के तरीके से करे, लेकिन उस साधना का भोजन वह जीमा भी है या नहीं—यह तो वही जान सकता है। यदि वह जीमा है तो चौबीस घन्टों तक रस चलेगा और नही जीमा है तो नहीं चलेगा। साधना करके उठा और घर पर गया

और वहाँ कदाचित् छोटी बींदणी ने गलती कर दी और मालूम हो गया कि चार आने का नुकसान कर दिया है तो उस समय छोटी बींदणी पर रोब तो नहीं जमाएगा ? यदि रोब आ गया तो ज्ञात होगा कि साधना में खुराक पूरी नहीं ली है।

यहाँ से उठकर घर पर गए और इतने में ही वह खुराक खत्म हो गई। क्या इतनी कमजोर खुराक मिली ? बल्कि यह होना चाहिए कि घर पर जाने के बाद कैसी भी ऊँची-नीची स्थितियां आ जायें, अपने मन के अन्दर समता की रोशनी चलती रहे। ऐसी अवस्था बनी रहे तो समझना चाहिए कि हमने आध्यात्मिक जीवन की खुराक ली है। यदि यह नहीं बनता है और बैठे-बैठे मन का क्रोध भड़क उठा तो अज्ञान अन्धकार आ गया। ऐसी स्थिति में समझना यह है कि हमने साधना का भोजन किया परन्तु रस नहीं बना।

पूणिया और उसकी सामायिक

पूणिया श्रावक ने सामायिक में रस लिया था तो उसके जीवन में कितनी उच्च समता आई थी। जब एक दिन सामायिक में बैठा हुआ था तब सामायिक में अज्ञान अन्धकार की दशा आने लगी, सोचा कि चौबीस घन्टों की जीवन-चर्या में क्या कुछ बना कि जिससे ज्ञान गिर रहा है और अज्ञान नजदीक आ रहा है। चिंतन किया तो लगा कि कल सामायिक की थी, उस सामायिक का असर बराबर चला। मैंने विकार-भावना और स्वार्थ के वशीभूत होकर कोई काम नहीं किया। मेरी सामायिक की समता की स्थिति बनी रही। फिर आज यह धमाल क्यों हो रही है ? मेरा मन चंचल क्यों बन रहा है ? सोचा कि मैं गृहस्थाश्रम में एकाकी नहीं हूँ। इसमें रहता हुआ दूसरे का सहारा भी लेता हूँ। उसमें धर्मपत्नी की सहायता मुख्य है। मेरी धर्मपत्नी धर्मसहायिका है। जो मेरे साथ रहती है। उसमें भी समता है। परन्तु कदाचित् विषमता बन गई हो तो उसका प्रभाव भी मेरे ऊपर पड़ सकता है। धर्म सहायिका से पूछ लूं कि तुमने क्या किया है ?

धर्म सहायिका भी नियमित रूप से सामायिक करती थी। पूणिया श्रावक ने धर्म सहायिका से पूछा कि तुमने सामायिक की तो वैसी ही चौबीस घन्टे चली ? वह पतिव्रता थी। उसने भी अपने जीवन को देखा, अवलोकन किया। वह जानती तो थी परन्तु अनुसन्धान की स्थिति से देखने लगी तो देखा कि और तो गलत काम नहीं किया। परन्तु रसोई बनाने के लिए अग्नि लेने के लिए गई तब उसके

मालिक से बिना पूछे आधे छाने पर अग्नि रखकर ले आई और वह चूल्हे में जलाई और रसोई बनाई । यह सोचकर उसने आकर कहा--प्राणेश्वर ! मैंने जो कल आत्मिक खुराक ली वह चलती रही-ताकत बनी रही । परन्तु कल ही न मालूम क्या प्रमाद बना कि मैं आग लेने के लिए गई तब घर से कुरछी ले जाना भूल गई और पड़ौसन के यहां से बिना पूछे आधा छाना लेकर, उस पर आग रखकर ले आई । मेरी प्रामाणिकता में यही कमी आ गई और वह आधा छाना भी रसोई बनाने में निमित्त बन गया । तो मैं समझ रही हूँ कि कल मैंने मेरी आत्मा को पूरी खुराक नहीं दी । अब मैं आयन्दा पूरा-पूरा ख्याल रखूंगी ।

जब यह बात पूणिया श्रावक ने सुनी तो वह कहने लगा कि यह आत्मा की कमजोरी है । इसने तुमको बेभान किया सो तो किया ही परन्तु मुझको भी बेभान कर रही है । जल्दी करो ! इसकी सफाई करो और पड़ौसन के यहां जाकर माफी मांगो और आधे छाने की कीमत कहे तो कीमत दो या आधे छाने के बदले में आधा छाना ले जाकर दो जिससे कि मेरी साधना ठीक बन सके और इस आत्मा को भोजन अच्छी तरह से दे सकूँ, यह अज्ञान अन्धकार मुझ को बीच में आकर सताने लगा है ।

पूणिया श्रावक की धर्मपत्नी पड़ौसन के यहां गई और नम्रता से निवेदन करती हुई कहने लगी कि मैंने आपका बहुत बड़ा अपराध किया है । वह कहने लगी कि तुम कौनसा अपराध हम लोगों का करने वाली हो ? तुम तो तीर्थस्वरूप हो, तुम क्या गलती कर सकती हो ? तो पूणिया की धर्मपत्नी ने कहा, नहीं, नहीं । मुझ से गलती हो गई और वह यह कि कल मैं तुम्हारे यहां आग लेने के लिए आई थी, तब ख्याल नहीं रहने से आधा छाना बिना आज्ञा के तुम्हारे यहां से ले लिया । उसने कहा कि इसका क्या मूल्य है ? तब उसने कहा कि यह हमारी दृष्टि में कमजोरी है । छोटासा प्रमाद भी घातक होता है, अब माफी दो और जो आधे छाने की कीमत हो, वह ले लो । तो पड़ौसन ने कहा कि मैं भाग्यवान हूँ कि आप जैसी धर्मात्मा आधे छाने की कीमत देने आई हैं । मैं क्या बताऊँ कि आधे छाने की कीमत क्या होती है ?

कहिए ! भगवान महावीर के समय में क्या कीमत होगी आधे छाने की ? एक भाई ने लिखा है कि औरंगजेब के जमाने में एक रुपये के आठ मन चावल और एक रुपये का सेर घी मिलता था । अब आप सोचिए कि औरंगजेब के

जमाने में यह बात थी तो भगवान् महावीर के समय छाने की कीमत क्या हो सकती है ? लेकिन जब वह नहीं मानी, तब पड़ोसन ने कहा कि आपका दिल नहीं मानता हो तो आधे छाने के बदले में आधा छाना दे दीजिए। तब उसने आधा छाना उसे दिया। तब पूणिया श्रावक के मन में जो समता का प्रकाश आना चाहिए था, वह आ गया।

बन्धुओ ! इसीलिए पूणिया श्रावक की सामायिक की कीमत राजा श्रेणिक नहीं चुका सका। कीमत तो क्या दलाली भी नहीं चुका सका। इस सामायिक का फल आप भी लें। हम तो चौबीस ही घन्टे तीन करण और तीन योग से सामायिक का पालन करते हैं। आप कम से कम अड़तालीस मिनट के लिए करें। हम तो चौबीस घन्टे ही जीमते हैं और आप एक घन्टे के लिये जीम लें। परन्तु आपको और हमको देखना है कि हम जीमते तो हैं परन्तु आत्मा की पुष्टि कर पाए अथवा नहीं ? यह पुष्टि समीक्षण ध्यान से होगी। अन्तर की वृत्तियाँ जब तक नहीं बदलेंगी, व्यवहार नहीं बदलेगा तब तक हम कितनी ही सामग्रियां लेकर बैठ जांय, कुछ नहीं हो सकता।

जीवन का समीक्षण इस प्रकार हो

बन्धुओ ! मैं क्या बताऊँ ? एक जिनदास नामक श्रावक था। वह एक दिन हमेशा की भांति धर्मस्थान पर सामायिक करने को बैठा। उसके गले में जो बहुमूल्य कंठा था उसे भी निकाल कर कपड़ों के साथ रख दिया। एक दूसरे व्यक्ति की उस कंठे पर नजर पड़ गई और वह मौका देखकर कंठा उठाकर ले गया। जब उसने कण्ठा उठाया तो सामायिक में बैठे हुए जिनदास सेठ के मन में जरा भी हलचल नहीं हुई—ऊँचे-नीचे भाव नहीं हुए और हल्ला भी नहीं किया कि देखो—श्रावको यह मेरा कण्ठा उठाकर ले जा रहा है। परन्तु यहां अभी जरासा भी हल्ला हो जाए कि चप्पल-जूते चुराने वाला आ गया है। तो कहो ! आपका ध्यान सामायिक की तरफ जायगा अथवा जूतों की तरफ ?

जिनदास श्रावक उस समय सामायिक में थे, जब सामायिक पार ली—खुले हो गए, तो खुले होने के बाद, श्रावक का कर्तव्य है कि अपराधी को दण्ड देना। अब उनको सामायिक पारने के बाद तो दण्ड देने का अधिकार था। परन्तु मन में भी नहीं आया कि उसको दण्ड दूं और सेठ उसी समता भाव में अपनी दुकान पर

पहुँच गए। मुनीम गुमाश्तों ने पूछा कि सेठ साहब, आपका अमूल्य कण्ठा कहां गया? आज गले में दिखाई नहीं दे रहा है? परन्तु सेठ साहब ने यह भी नहीं कहा कि एक चोर आया था वह उठाकर ले गया। सेठ साहब का आचरण ही ऐसा था कि मुनीम गुमाश्ते भी कुछ नहीं कह सकते थे। मुनीम गुमाश्ते अपने कार्य में व्यस्त हो गए। इतने में ही वही व्यक्ति कंठा लेकर आया और कहने लगा—सेठ साहब! मैं गरीब आदमी हूँ। मुझे इस कंठे को गिरवी रखकर दस हजार रुपये दे दीजिए। यद्यपि कंठा सेठ का था और हाथ में भी आ गया फिर भी उस समय वह भाव सामायिक में ही था, हां, भाव सामायिक में चल रहे थे और सामायिक का रस ले रहे थे। उसकी शक्ति आ रही थी। वे दुकान पर बैठे हुए थे, परन्तु कितना समभाव और आत्म शक्ति थी कि यह भी नहीं कहा कि अरे! क्यों चालाकी खेल रहा है? मेरा ही कंठा लेकर आया है और मेरे यहां ही गिरवी रख रहा है। तो बन्धुओ! यह सामायिक का जानना और देखना। जिनदास देख रहे हैं, समीक्षण कर रहे हैं। ऐसी समीक्षण करने की क्षमता सब में आए, यही अभीष्ट है। ऐसी भावना के साथ प्रत्येक साधक जाने और ऐसी सामायिक के साथ चले तो कैसी सुन्दर जीवन की स्थिति बना लेता है। कथा लम्बी है, अभी इसका इतना प्रसंग नहीं। जहाँ गलती का प्रसंग आया तो अपनी गलती महसूस की कि मैंने बहुत बड़ा पाप किया जिसके कारण इस व्यक्ति के जीवन में ऐसे पाप का प्रसंग आ पड़ा। मैं श्रावक हूँ और एक घन्टे की खुराक रोजाना आत्मा को देता हूँ, परन्तु यह खुराक आत्मा में परिणत नहीं हुई। मेरा कर्तव्य था कि सारे गांव के लोगों को अपना कर्तव्य समझाता और कौन दुखी-दर्दी है? मालूम करके उसकी मदद करता। मैंने यह नहीं किया जिससे इसको कंठा चुराना पड़ा, फिर गिरवी रखा और मेरे पास आना पड़ा। वही व्यक्ति कुछ समय बाद उसे छुड़ाने लगा तो सेठ ने उसे अपने पास नहीं रख कर उसकी कीमत का एक ट्रस्ट बना दिया। ऐसी जानने की स्थिति बनती है तो समझना चाहिए कि अज्ञान-अन्धकार दूर हो रहा है। समीक्षण आलोक से अन्तरंग को आलोकित किया जाय, तो निश्चय ही आत्मा जगमगा उठेगी।

———————

समीक्षण हो विचारों के साथ आचरण का भी

(गांधी जयन्ति दिवस)

- पोशाक : शरीर, मन और आत्मा की
- प्रयोगात्मक रूप हो जीवन का
- आचरण का प्रभावशाली आदर्श
- विचार-शुद्धि के साथ आचरण भी हो

संजोग-सिद्धी उ गोयमा फलं, न हु एक्क चक्केण रहोपयाइ।
अन्धोय पंगू य पणो समेच्चा, ते संपउत्ता नगरंपविट्ठा ॥
महानिशीय सूत्र–१३६

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदितस्स सोदीवो।
जदि सिक्खिउण आणयं करेदि किं तस्ससिक्खफलं ॥
मूलाचार १०, १५

ज्ञान के साथ सम्यक् आचरण से ही सिद्धि मिलती है। रथ एक चक्र से नहीं चलता, वैसे ही ज्ञान या आचरण इनमें से किसी एक से सिद्धि नहीं मिलती। सिद्धि अन्ध-पंगु के न्याय के अनुसार ज्ञान और आचरण के सम्मिलित रूप से मिलती है। किसी के हाथ में दीपक है और फिर वह कुए में गिर जाय तो वह दीपक उसके लिए क्या काम का ?

आत्मा की परिपूण शुद्धि के लिए कर्म की पोशाक उतार कर समीक्षण ध्यान की नई पोशाक सजाइये।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांत्रि स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे,
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे।।

बन्धुओ! भव्य जीवों की अभिलाषा किधर से भी लें—निष्कर्ष के रूप में वही परम शांति ही सामने आएगी। उसको पाने के लिए प्रयत्न कई तरह से किए जाते हैं। विविध अनुष्ठान भी जीवन में अपनाए जाते हैं। कोई मनुष्य कभी किसी का जाप कर शांति पाना चाहता है। कभी अजपा जाप से उसको वरना चाहता है। तो कभी भजन के माध्यम से या कभी सिर्फ ज्ञान का ही अवलंबन लेकर चलना चाहता है। ये सब बातें सहायता देने वाली अवश्य मिलेंगी, परन्तु मूल स्रोत तो जीवन का आमूल-चूल परिवर्तन है। जीवन का रूपांतरण है।

पोशाक : शरीर, मन और आत्मा की

जब तक वर्तमान की जो अशुभ प्रवृत्तियां हैं—उन प्रवृत्तियों का परिवर्तन नहीं होता, तब तक जीवन में नयी रूप-रेखा नहीं आ सकती है। पोशाक पुरानी पहनी हुई है, तब तक नयी पोशाक उस पर चढ़ाई गई तो वह इतनी हितावह नहीं होगी। उसके लिए पुरानी पोशाक उतारी जाय तभी शरीर पर नयी पोशाक पहिनी हुई हितावह होगी। यह शारीरिक पोशाक की बात हुई। परन्तु मानसिक और आध्यात्मिक जीवन की पोशाक भी है। मानसिक पोशाक जीवन को आच्छादित करके चल रही है। यदि गहराई में जाकर चिन्तन करेंगे तो ज्ञात होगा कि मन की भी एक पोशाक इस आत्मा ने सजा रखी है। अपने मन से ताना-बाना बुन रखा है। मनुष्य के जीवन में चिन्ता ज्यादा है। इस चिन्ता के अनुसार वह अपने अन्दर काल्पनिक शांति का अनुभव करता है। जहां आत्मा की शांति का प्रसंग है, उसके ऊपर भी एक आवरण है। उसके ऊपर भी एक पोशाक है। जिसको शास्त्रीय भाषा में कर्म कह सकते हैं। कर्म का आवरण कुछ ऐसे ढंग से आया हुआ है कि वह आत्मा की पोशाक बनी हुई है। उस आध्यात्मिक शक्ति को निखारने के लिए कर्म आदि की जो पुरानी पोशाकें ऊपर चढ़ा रखी हैं, उन्हें खोलना होगा। मन पर चढ़ी विकृति की पोशाक उतारनी होगी। इन पोशाकों के रहते, विशुद्धि की पोशाक

शोभास्पद नहीं हो सकती। वर्तमान युग में ध्यान के नाम से अनेक प्रक्रियाएं चल रही हैं। उन प्रक्रियाओं में जहां-कहां लोग शान्ति का आभास करने लगे, परन्तु वह शांति ध्यान तक ही कुछ क्षणों के लिए सीमित रह जाती है, आगे नहीं बढ़ पाती। इसका एक ही कारण है कि चित्त पर चढ़ी विकारों की पोशाक उतारी नहीं गई है। जब तक वह पोशाक रहेगी, तब तक ध्यान की चाहे कितनी ही अच्छी पोशाकें पहनना चाहेंगे तो वह न तो शोभास्पद बनेगी और न ही शाश्वत शान्ति देने वाली। समीक्षण ध्यानी प्रक्रिया में इसलिए सबसे पहले उसे अतीत का चिन्तन कराकर मन से वैकारिक पोशाक उतराई जाती है, तभी वर्तमान की प्रक्रिया और भविष्य का जीवन शाश्वत शांति की दिशा में आगे बढ़ पाता है।

प्रयोगात्मक रूप हो जीवन का

उस परम स्वरूप को पाने के लिये मनुष्य को अनुसन्धान भी उसके अनुरूप ही करना होगा। इसका मतलब है कि मनुष्य ज्ञान सब करे, ज्ञान सब सीखे। परन्तु सीखने के साथ ही साथ प्रैक्टिकल रूप से जीवन में उसे स्थान दे। जितना जीवन में उसे स्थान देंगे और जीवन में आचारण के साथ ज्ञान करेंगे, उतना ही वह लाभप्रद भी होगा। परन्तु दोनों में अन्तर होगा। मैं व्यावहारिक भाषा में कहूं तो एक तो व्यक्ति डॉक्टरी सिद्धान्त की पुस्तकें पढ़ता है। पुस्तकों में जो कुछ रहा हुआ है, वह सब याद करता है और एक व्यक्ति डॉक्टरी जो पुस्तकों में सीखी है, उसके अनुसार अनुभूति करता हुआ चलता है।

आपके घर में कोई मरीज हो, उस समय उसके औषधि देने का प्रसंग आ जाय, तब आप जो छात्र, पुस्तकों में से तमाम औषधियों के नाम रट लिये हैं, उससे इलाज करना चाहेंगे या जो प्रेक्टिकल काम करता है ऐसे डॉक्टर, जिसने अनुभव किया है उससे इलाज कराना पसन्द करेंगे? उत्तर होगा—जो अनुभवी है, उसको ही पसन्द करेंगे। देखिए, वही स्थिति यहां है। ज्ञान चाहे समुद्र जितना हो और आचरण एक बूंद के बराबर हो। परन्तु एक बूंद का आचरण जो महत्व रखता है, उतना अपेक्षा से समुद्र के बराबर का ज्ञान भी नहीं रखता है। ज्ञान की दृष्टि से कितना ही प्रचार, प्रसार किया जाए परन्तु वह प्रचार और प्रसार प्राण रहित होगा। आचरण के साथ साधक की सरल बात और थोड़ी बात कई गुना महत्वपूर्ण होगी। जहां जीवन में शुद्ध आचरण, सद्प्रवृत्तियां जितना मूल्यांकन रखती हैं,

उतनी डिग्रियां नहीं रखनी है। स्कूल-कॉलेज की जितनी पदवियां हैं वे नहीं रखतो हैं। पदवियां हो या नहीं, पर यदि आचरण सम्यक् है तो उसके आचरण की गरिमा का असर हुए विना नहीं रहेगा। आज का व्यक्ति भाषण देना खूब जानता है और प्लेटफॉर्म पर खड़ा होकर भाषण देता है, प्रभावित करने की चेष्टा भी करता है, परन्तु जीवन में आचरण का रूप नहीं है तो उसका श्रोताओं पर असर स्थायी नहीं होता है। परन्तु जो व्यक्ति एकरूप में रहता है, सद्-आचरण में रहता है और चाहे वोलता कम हो परन्तु उसके कहने का ढंग महत्वपूर्ण होता है तो श्रोताओं के दिल पर गहरा असर डालने वाला होता है।

आचरण का प्रभावशाली आदर्श

अभी आते हुए मेरे कान में शब्द आये कि आज गांधीजी की जन्म जयन्ती है। पर प्रश्न होता है उनकी ही जयन्ती महत्त्वपूर्ण क्यों? क्या अन्य नहीं जन्में? क्या गांधी नाम के अन्य व्यक्ति नहीं हुए? तब उनका ही नाम क्यों लिया जाता है? आप कहेंगे कि महाराज! उनके जीवन में आचरण की क्षमता थी। वे एकरूप में जीवन में रहने का प्रयास करते थे। जहां कहीं और जब कभी स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन चलता तो गांधीजी चिंतित होकर बैठ जाते। परन्तु अंग्रेज जानते थे कि हिन्दुस्तान को हिलाने वाले ऐसे तो अन्य भी हुए—परन्तु उनमें से मुख्य गांधीजी हैं, अंग्रेज चाहते थे कि गांधी क्या कहता है, यह पहिले ही मालूम हो जाए तो हम उस पर लीपा-पोती कर दें। अंग्रेज गवर्नमेंट की तरफ से खुफिया लोग (सी.आई.डी.) जाते और गांधीजी जहां चिन्तन करते थे, वे बैठ जाते और वाद में पूछते कि गांधीजी! आप क्या सोच रहे थे? सुनने को मिला कि वे जो कुछ सोच रहे थे, वह सब वता देते थे। स्पष्ट कह देते थे कि मैं यह सोच रहा था कि अंग्रेजों को कैसे हिन्दुस्तान से निकालना है? गांधीजी के जीवन की वहुतेरी घटनाएँ आज गांधी जयन्ती मनाने वाले सुना देंगे—लम्बे-लम्बे भाषण सुनाने वाले मिल जायेंगे। परन्तु गांधीजी जिस प्रकार अपने जीवन में प्रैक्टिकल प्रयोग देते, वैसा प्रैक्टिकल प्रयोग देने वाले बहुत कम मिलेंगे। बाहर में जयजयकार का नाद गुंजाने वाले वहुत मिल जायेंगे। परन्तु स्वयं के अन्तर में आचरण की नाद गुंजाने वाले बहुत कम मिलेंगे।

गांधीजी जब फॉरिन में थे तो ऐसा भी प्रसंग बना कि ईसाइयत को वहुत बड़ी हस्ती रखने वाला एक व्यक्ति सोचने लगा कि यह मिस्टर गांधी हिन्दुस्तान

का प्राण है। यह हिन्दुस्तान में चहल-पहल करने वाला है, तो इस गांधी को यदि ईसाई बना लिया जाए तो हिन्दुस्तान में बहुतेरे ईसाई बन जायेंगे। उसने गांधीजी से मित्रता साधी और विनय के साथ पेश आया। दिन-प्रतिदिन लगाव बढ़ाता गया। एक दिन उसने प्रस्ताव रखा कि मिस्टर गांधी! तुम तो बहुत अच्छी-अच्छी बातें करते हो तो कम से कम छुट्टी का प्रसंग हो उस दिन हमारे यहां भोजन किया करो। तब गांधीजी ने कहा कि मुझे ऐतराज नहीं है, भोजन करने में; परन्तु मैं निरामिष भोजी हूँ। मैं खराब खाना नहीं खाता हूँ। देखिये! गांधीजी कितने निर्भीक व्यक्ति थे। वे जो बात होती स्पष्ट रूप से कह देते थे। लुकाव-छिपाव नहीं रखते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अण्डे, मांस के खाने से होने वाली हानियों का स्पष्टीकरण दिया। तब उन्होंने गांधीजी को निरामिष भोजन दिया। इस प्रकार आने-जाने का प्रसंग कई बार हुआ। लेकिन नियम के पक्के गांधीजी ने कभी सामिष आहार नहीं किया। वे अपनी संस्कृति पर डटे रहे। वह ईसाई जो गांधीजी को ईसाई बनाना चाहता था, वह छुट्टी के दिन जाकर बातें पूछा करता, धर्म चर्चा करता और अपने बंगले पर लाता और उस दिन निरामिष भोजन बनवाता और बड़े प्रेम से भोजन कराता। इस प्रकार जब कार्यक्रम चलने लगा तब वह ईसाई सोचने लगा कि मैं इन्हें ईसाई धर्म के सिद्धान्त समझाकर ईसाई बना लूंगा। परन्तु गांधीजी आचरण को मुख्यता देते थे और उसी के अनुरूप कार्य करते थे। एक दिन घर में जो ईसाई के छोटे बच्चे थे, उन्होंने पूछा कि पिताजी! ये मिस्टर गांधी बातें अच्छ-अच्छी बताते हैं। पिता ने कहा -- हां भाई, बताते हैं क्योंकि हिन्दुस्तानी हैं। फिर बच्चों ने पूछा पिताजी! छुट्टी के रोज बिना मांस का भोजन क्यों बनता है? बच्चों का स्वभाव होता है—उनकी जिज्ञासा होती है पूछने की। तो प्रश्न पूछ लिया। पिता ने कहा—ये हिन्दुस्तानी हैं। ये मांस नहीं खाते। बच्चे तो जिज्ञासा वाले थे तो फिर पूछा कि क्यों नहीं खाते हैं? तो पिता ने मजाक में कहा कि हिन्दुस्तानी क्या समझते हैं? बच्चों ने कहा कि कुछ न कुछ बात होगी? चाहते वे भी होंगे? पर क्यों नहीं खाते हैं? तो पिताजी ने कहा कि ये ऐसा बोलते हैं कि जैसे हमारे अन्दर प्राण हैं वैसे ही पशुओं में भी प्राण हैं। हमारे प्राणों को कोई खत्म करता है तो जैसे हमको अच्छा नहीं लगता है वैसे ही पशुओं को कब अच्छा लगेगा? पुत्रो! इसमें कुछ दम नहीं। ये सब दकियानूसी बातें हैं। परन्तु उन कोमल मस्तिष्क वाले बच्चों के दिमाग में यह बात जम गई थी कि हमारा कोई मांस खाए तो खिलाने को क्या तैयार होंगे? तो पशु अपना मांस कब खाने देंगे? हृदय में उथल-पुथल मची और बच्चे चर्चा में शरीक होने लगे। आखिर एक दिन उन बच्चों ने साहस के साथ कह

दिया कि हम भी मांस नहीं खायेंगे। यह सुनते ही मानो उनके पिता के पैरों के नीचे से जमीन खिसकने लगी। वे सोचने लगे—अरे! मैं तो गांधीजी को ईसाई बनाने जा रहा था, लेकिन वे तो नहीं बने पर मेरे ये बच्चे भी मांस छोड़ने को जा रहे हैं, तो पिताजी ने पूछा कि तुम मांस छोड़ने कैसे जा रहे हो? तो बच्चों ने कहा कि हमको मिस्टर गांधी की बात पसन्द आई है कि जब हमको प्राण प्यारे हैं तो इनको भी प्राण प्यारे हैं। हम तो गांधीजी की बात मानेंगे और मांस नहीं खायेंगे। यहां तो लेने के देने पड़ गए। बन्धुओ! वह ईसाई जो गांधीजी को ईसाई बनाने गया था, परन्तु उसके बच्चे हिन्दुस्तानी बनने को तैयार हो गये। एक दिन उस ईसाई ने गांधीजी को जिमाकर कहा—मिस्टर गांधी! मैं अब आपको जिमाने का निमन्त्रण वापिस लेता हूँ। गांधीजी ने कहा—बात क्या है? तो वह बात के सिलसिले में बोला—कि मैंने तो सोचा था कि आपको ईसाई बनाऊंगा; परन्तु उल्टे मेरे बच्चे आपके मुताबिक चलने लगे; परन्तु गांधीजी ने बच्चों को नहीं कहा था कि मांस मत खाओ और परिवार को भी संबोधन नहीं किया। परन्तु जीवन में आचरण की स्थिति जो लेकर चल रहे थे उसका बच्चों पर भी कितना जल्दी असर हुआ। जबकि वह ईसाई उन्हें बाईबिल आदि से प्रभावित करना चाहता था। गांधीजी तो प्रभावित नहीं हुए पर वे जरूर हो गए।

देखिये! विशुद्ध जीवन का आश्चर्यजनक प्रभाव! आचरण की परिधि से अगर ज्ञान की विशुद्ध धारा, समीक्षणता के साथ प्रवाहित होती है तो ही उसका स्थायी प्रभाव पड़ सकता है।

गांधीजी के जीवन का एक प्रसंग और है, जब वे विलायत में पहुँचे तो जज के सामने विलायती पोशाक में पहुँचना था, परन्तु गांधीजी हिन्दुस्तानी पोशाक में पहुँचे। आज तो बहुरूपिए की तरह पोशाक सजा लेते हैं, उनका वास्तविक असर नहीं रहता है। प्रभाव उनका ही रहता है जो एक तरह की पोशाक पहिनते हैं। गांधीजी की एक यह भी निष्ठा थी कि हिन्दुस्तानियों को हिन्दुस्तानी पोशाक में रहना चाहिये।

आज गांधीजी के जीवन पर कई भाषण देने वाले मिल जायेंगे परन्तु गांधीजी की पोशाक और आचरण पर चलने वाले कितने मिलेंगे? आज हिन्दुस्तानी इतने नकलची हो गए हैं कि वे पाश्चात्य रंग में रंगे जा रहे हैं। किन्तु रूस, अमेरिका, इंग्लैंड, जापान आदि किसी देश को ले लीजिए वे अधिकांशतः अपनी संस्कृति में हैं। हिन्दुस्तानियों के मन में पाश्चात्यता भरी हुई है। वे पाश्चात्य देशों की तरफ ही

दृष्टि रखते हैं। अपने देश का जिनको गौरव नहीं, अपनी भारतीय संस्कृति पर स्वाभिमान नहीं तो ऐसा जीवन भी कोई जीवन है ? आप सही मायने में देखें तो जीवन बनता है सद्विचार और सद्आचरण लाने से ।

आध्यात्मिक धरातल पर, इसी जन्म-भूमि पर भगवान महावीर के रहने से, उनके सिद्धान्तो से, गांधीजी ने थोड़ी सी शिक्षा ली थी, संत-सतियों से प्रेरणा ली थी और उसको लेकर चल रहे थे। जब वे फॉरिन में जा रहे थे तब बेचरदासजी स्वामी से उनकी माताजी ने उन्हें प्रण करवाए थे। माता ने कहा कि मैं आशीर्वाद तभी दूंगी जब कि तू महाराज साहब के पास चलकर प्रण ले लेगा। वह उन्हें ले गई और तीन प्रतिज्ञायें दिलवाई, मांस नहीं खाना, दारु नहीं पीना और परस्त्री गमन नहीं करना अर्थात् पर स्त्री को माता के समान समझना। ये गांधीजी की प्रतिज्ञायें थीं। माताजी को भी कितनी लगन थी प्रतिज्ञा दिलवाने की। आज भी क्या ऐसी भावनायें हैं माताओं की, कि हम भी अपनी सन्तान को सन्तों के पास ले जाकर अच्छे नियम दिलवायें, जिससे इनका भी जीवन सच्चरित्र बने–जिनकी भावनायें होती हैं तो वे अपनी सन्तानों को अच्छा बनाए बिना नहीं रहती हैं। परन्तु आज वे सोचती भी होंगी या नहीं ? कौन जाने ? वे तो अपनी सन्तानों को जेण्टलमैन बनाना चाहती हैं। बच्चों को इंग्लिश स्कूलों (कान्वेन्ट) में पढ़ाने को भेज देंगी। वहां चारित्र सम्पन्नता की दृष्टि से, आचरण की दृष्टि से संस्कार अच्छे या बुरे पड़ेंगे, इसे नहीं देखती हैं, जबकि गांधीजी के संस्कारों में माता का प्रभाव था। माता का वे आशीर्वाद लेने जाते हैं और फिर माता जो आशीर्वाद उन्हें देती है, वह उनके जीवन को सजाने वाला बनता है। कहिए ! इस प्रतीक के रूप में आप भी क्या माता का आशीर्वाद लेने जाते हैं ? यदि आप भी यह प्रतिज्ञा ले लें कि हम कोई भी काम करेंगे तो माता को पूछे बिना नहीं करेंगे। तो देखिए ! फिर आपके जीवन में कितना परिवर्तन आ जाता है. यह आप स्वयं अनुभव कर पायेंगे।

अब आप दिल में जमा लीजिए कि कहीं भी जायेंगे तो माता को पूछकर जायेंगे। तो फिर क्या आप गलत रास्ते पर जा सकेंगे ? कभी नहीं जायेंगे। गलत रास्ते पर माता को पूछकर नहीं जायेंगे। गांधीजी ने कहा माताजी, आशीर्वाद देंगी तभी मैं फॉरिन जाऊँगा। तब माता ने कहा कि पहिले प्रतिज्ञा लो, तो उन्होंने प्रतिज्ञा ली और फिर गए। वे उन प्रतिज्ञाओं पर अटल रहे, डिगे नहीं। उसका लोगों पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा।

विचार शुद्धि के साथ आचरण भी हो

मात्र ज्ञान से लोगों को प्रभावित करने के लिए व्यक्ति प्रखर वक्ता के रूप में कितना ही बोलता रहे, परन्तु यदि जीवन में आचरण नहीं है तो उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा और यदि जीवन में आचरण है तो थोड़ा बोलने का भी प्रभाव पड़ जाएगा। जो बात अनुभव की है वह अनुभव से लेनी पड़ेगी। 'महानिशीथ' सूत्र में स्पष्ट कहा है—

संजोग, सिद्धी य उ गोयमा फलं,
न हु एगचक्केण रहोपयाई।
अन्धोयपंगु य वणो समेच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥

ज्ञान-क्रिया के संयोग से ही सिद्धि रूप फल की उपलब्धि होती है। जिस प्रकार रथ, एक चक्र से नहीं चलता है, उसी प्रकार ज्ञान व क्रिया के आचरण से मुक्ति मिलती है। जिस प्रकार अन्धा और पंगु दोनों मिलकर जंगल पार कर जाते हैं, वैसे ही सम्यक् ज्ञान के साथ आचरण के द्वारा आत्मा पवित्र बन जाती है।

ज्ञान के साथ आचरण होना आवश्यक है। यदि ज्ञान ही है, आचरण नहीं तो वह उस व्यक्ति के समान होगा, जिसके पास दीपक तो है, फिर भी कुए में गिर जाय। 'मूलाचार' में बतलाया है—

जदि पडदि दीव हत्थो, किं कुणदि तस्सो दीवो।
जदि सिक्खिउण आणयं, करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥

जीवन को विशुद्ध-परिष्कृत बनाने के लिए समीक्षण के साथ आचरण की भूमिका में उतर जाएं तो जो गलत आचरण बना हुआ है, वह सही रूप में बदल जाएगा और जो विकारमय वृत्तियां बनी हुई हैं, वे विकार रहित बन जाएंगी। इस रूप में यदि आचरण होगा, तो एक दिन परम सुख और परमशान्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

समता और समीक्षण

- बाहर नहीं भीतर झाँको
- समीक्षण करें सूक्ष्म का भी
- गति बने आत्मा के अरूपित्व में
- समता की उद्भूति
- समता के चार सिद्धान्त

समियाए धम्मे

—आचारांग सूत्र

समता ही धर्म है।

विश्व भर में विषमता की ज्वाला धू-धू करके जल रही है, ज्वालाओं को शमित करने के लिये एक मात्र उपाय है—समता दर्शन।

जिस धर्म में समता के लिए कोई स्थान न हो, वह धर्म कभी सुधर्म की कोटि में नहीं आ सकता।

व्यक्ति से विश्व तक शांति महकाने के लिए समता दर्शन के ४ सिद्धान्त, ३ सोपान व २१ नियमों की योजना प्रस्तुत की गई है। समता दर्शन की संक्षिप्त विचारणा यहाँ प्रस्तुत की गई है।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे,
कम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे॥

बाहर नहीं भीतर झाँको

वन्धुओ ! आत्मदेव के स्वरूप सत्-चित् आनन्द घन को धारण करने वाला यह मानवीय जीवन एक असाधारण शक्ति का निवास है। जिस शक्ति को स्वयं मानव नहीं पहचान पा रहा है, इसकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं है। ध्यान सिर्फ स्थूल पदार्थों की तरफ है। बड़े दिखने वाले दृश्यों की तरफ है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि स्थूल पदार्थ सूक्ष्म के आधार पर टिके हुए हैं। जिस स्थूलता को वह पकड़ना चाहता है, वह स्थूलता सूक्ष्मता पर निर्भर है। बड़े वट वृक्ष को, बड़ले के झाड़ को जब वह देखता है, तो वह एक अति सूक्ष्म बीज के सहारे पनपा है। बड़ा से बड़ा पंखा चल रहा है, ट्रेन चल रही है—ये दिखने वाले तत्व अपने पुर्जों से ही नहीं चल रहे हैं। परन्तु इनके भीतर में सूक्ष्म ऊर्जा है, विद्युत का वेग है। विद्युत के वेग को मनुष्य देख नहीं पाता। परन्तु उसकी शक्ति कितनी है ? इसी शक्ति के आधार पर बड़ी-बड़ी ट्रेनें दौड़ सकती हैं। बड़े-बड़े आविष्कार, बड़ी-बड़ी संरचनायें हो जाती हैं। दुनियाँ के व्यक्ति उन संरचनाओं को देखकर मुग्ध बन रहे हैं। परन्तु स्वयं सोच नहीं पा रहे हैं कि हमारे पास ऐसी संरचनाओं का निर्माता बैठा हुआ है। इंग्लैंड, अमेरिका, रूस आदि देशों की तरफ उसकी दृष्टि है, परन्तु अपने आपकी तरफ उसका ख्याल नहीं है।

समीक्षण करें सूक्ष्म का भी

अभी सन्त जो कुछ शास्त्रीय विवेचना कर रहे थे, उसमें व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग की दृष्टि से निष्क्रियता की बात आई। तो आपमें से सम्भव हैं कुछ व्यक्ति निष्क्रियता को पसन्द करते हों। वे अपने स्थूल शरीर को महत्व देते हों। इसको आराम से रखना चाहते हों, अच्छे गादी-तकिए मिल जायें तो उस पर सो जायें और हाथ पैर

हिलाने नहीं पड़ें। ऐसे व्यक्तियों को निष्क्रियता की बात अच्छी लगी हो। परन्तु कुछ व्यक्ति जो अधिक विचारशील हैं, जिनके आंतरिक विचार सिर्फ शरीर के स्थूल पिण्ड को देखने तक ही सीमित नहीं हैं, जो ऊर्जा को, शक्ति को सम्पादन करना चाहते हैं, वे सोचते होंगे कि क्या शास्त्रकार सबको निष्क्रिय बनाना चाहते हैं ? परन्तु शास्त्र के वचन इतने व्यापक और विशाल हैं कि जीवन में उनका एकांगी दृष्टि से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उनको जानने के लिए विशाल दृष्टि की आवश्कता रहती है ।

गति बने आत्मा के अरूपित्व में

शरीर की स्थूल क्रियायें हैं, उन क्रियाओं के होते-होते तो बहुत समय हो गया। उन्हें विराम दो, जो हमारी एनर्जी है, ऊर्जा है, शक्ति है, उसको सक्रिय करिये। जहां व्युत्सर्ग की स्थिति का प्रसंग है, वहां ध्यान करने के लिए—'तावकायं, ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं कर देते हैं। परन्तु आप सोचें कि यथार्थ में हम सक्रिय बने या निष्क्रिय बने ? यद्यपि ये बाहर के हमारे कान, आँख, हाथ आदि रुके, परन्तु भीतर में सक्रिय हैं या निष्क्रिय हैं ? इस दृष्टि से निष्क्रियता और सूक्ष्म क्रिया को जाग्रत करना सीख गए तो आप अवश्य विश्वास रखिए कि आगे आने वाले युग में आप आगे होंगें। परन्तु अगर आपने केवल इन स्थूल क्रियाओं की तरफ ही दृष्टिपात किया और जीवन की सूक्ष्म क्रिया से ऊर्जा को पकड़ने की चेष्टा नहीं की तो आने वाले समय में बहुत पीछे रह जायेंगे। यदि हमारी मति सूक्ष्म पदार्थों को जानने की ओर गतिशील नहीं बनी तो हम सूक्ष्मतम आत्मा, जो कि अरूपी है, उसके स्वरूप को कैसे प्राप्त कर सकेंगे। उस सूक्ष्म स्वरूप को जानने के लिए 'पण्णा समिक्खए-धम्मं' प्रज्ञा से धर्म का—आत्मा का समीक्षण करना होगा और समीक्षण तभी हो हो सकेगा, जब हमारी मति सूक्ष्म विषयों में भी गतिशील बनेगी। आज व्यक्ति में कितनी पैनी बुद्धि चाहिये ? कितनी गुण ग्राह्यता होनी चाहिए ? यह चिन्तन दूर रहा, बल्कि इसके विपरीत केवल तुच्छ विषयों की तरफ उनकी बुद्धि का व्यय, तुच्छ स्वार्थों की तरफ उनकी शक्ति का अपव्यय, और अपने आपको विनष्ट करने की प्रक्रिया चल रही हैं, जो कि आज के मनुष्य के लिए हितकर नहीं हैं, सो तो नहीं है, परन्तु जगत् के लिए भी अहितकर हैं। आगे आने वाला भविष्य आपकी स्थूल क्रिया से सन्तुष्ट होने वाला नहीं है। आप सिर्फ नारे लगा लेते हैं। परन्तु इन नारों से ही काम चलने वाला नहीं है।

नारों के पीछे देखिए, कि आप क्या कर रहे हैं ? जबकि आज का युग है कि बोलो कम, करो ज्यादा । आप इस चीज को जिस रूप में लेना चाहें लें, यह बात अवश्य है कि मैं अपने कर्तव्य का पालन करने की दृष्टि से चाहे आपको कटु लगे, चाहे तत्क्षण समझ पायें या नहीं समझ पायें, परन्तु मैं अन्तःकरण की साक्षी से उपादेय बात आपके समक्ष रख ही देता हूँ; क्योंकि यह मेरा कर्तव्य है।

समता की उद्भूति

जब तक स्व. आचार्य श्री विराजमान थे तो मेरा दुनियां की तरफ ख्याल कम गया । क्योंकि दुनियां को प्रतिबोधित करने के लिए स्वयं गुरुदेव विराजमान थे ही, पर अब जब यह उत्तरदायित्व आ गया तो मैंने भी इधर ख्याल किया । कभी समाज के लोग प्रश्न कर बैठे कि आप अपनी साधना में तो लग रहे हैं, परन्तु हमारे लिए व्यवस्थित कार्यक्रम क्या कुछ दे रहे हैं और क्या देना चाहिए ? यह प्रश्न समाज के लोगों को पैदा हो या नहीं, परन्तु मेरे मस्तिष्क में जरूर हो गया था कि यह बात कभी न कभी आ सकती है । इस प्रश्न के समाधान के लिए मैंने चिन्तन किया । आचार्य श्री के स्वर्गवास के पश्चात् जब रतलाम में प्रथम चातुर्मास था । उसी चातुर्मास में व्याख्यान तो चलता ही था । तीर्थंकर भगवान् की प्रार्थना चल रही थी तथा उस समय दुनियां की विध्वंसक स्थिति को देखते हुए दुनियां के लिए हितावह क्या है ? इस विषयक चर्चा भी चिन्तन के साथ चलती थी । यह बात लगभग सन् 2020 में चौमासा था तब की है । वहीं मैंने विश्व शान्ति के उपाय के रूप में समतादर्शन की बात जनता के समक्ष रखी --विश्व में जो सारी विषमता है, बर्बरता है, जर्जरता है, एकता का अभाव है, आत्मीयता नहीं है और जड़ प्रधानता चल रही है, इन सब बातों का समाधान एक ही बात में हो सकता है कि व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व भावात्मक एकता के साथ समता भाव को साकार रूप दे सकें और अन्ततोगत्वा परमात्मा की दूरी भी नहीं रह सके । इन दृष्टिकोणों से समतादर्शन, हालांकि तब बीज रूप में, सामने दिया गया । उसके चार विभाग किये, समता सिद्धान्त दर्शन, समता जीवन दर्शन, समता आत्मदर्शन और समता परमात्मदर्शन । विश्व के प्रत्येक मनुष्य की समस्या का हल इस में रहा हुआ है । उसकी समस्यायें चाहे पारिवारिक संघर्ष से बनी हों, समाज की विषमता से बनी हों, व्यक्ति और पार्टी के वर्गीकरण से बनी हों, उसके मस्तिष्क की गांठों से बनी हों, चाहे अलग-अलग सम्प्रदायों के दुराग्रह से बनी हों । उन सबका समाधान इसमें

समाहित है। उनकी समस्याएँ सुलझ सकती हैं, कब ? जब वे समता के धरातल पर एक हों।

समता के चार सिद्धान्त

समता सिद्धान्त दर्शन, व्यक्ति की वैचारिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। उसके मन मस्तिष्क में जो गलत धारणाओं का जमाव हो गया है उससे कुंठाएं बढ़ती जा रही हैं। शान्ति के स्थान पर अशान्ति बढ़ती जा रही है। सुख के स्थान पर दुःख बढ़ रहा है। इन सबका मूल कारण मन-मस्तिष्क में जमे गलत सिद्धान्तों का ही परिणाम है। अतः सबसे पहले उन्हें सुलझाने के लिए समता सिद्धान्त दर्शन दिया गया है, जिसके माध्यम से मानव का मस्तिष्क समता के सिद्धान्त से आपूरित बने, विषमता के सिद्धान्तों को बहिष्कृत करे। जब जीवन में सिद्धान्त दर्शन की स्थिति समतानुरंजित बनेगी, तभी जीवन का आचरण व्यवस्थित रूप में बन सकेगा। इसलिए समता सिद्धान्त दर्शन के बाद समता जीवन दर्शन बतलाया गया है। जीवन दर्शन से व्यक्ति की आचार पद्धति को सुव्यवस्थित बनाने के लिए कहा गया है। जब उसकी आचार-प्रणाली साफ और स्वच्छ बनती है, तभी वह आत्मा के विषय में चिन्तन कर सकता है। अतः तीसरे नम्बर पर समता आत्मदर्शन बतलाया गया है। जब व्यक्ति आत्मा के विषय में चिन्तन-मनन के साथ आत्म-विशुद्धि के पथ पर आगे बढ़ जाता है, तब परमात्म स्वरूप प्रकट होता है, अतः चौथे नम्बर पर परमात्म दर्शन लिया गया है।[1] आत्मा से ही परमात्मा का स्वरूप अभिव्यक्त किया जा सकता है। एक बार जब परमात्म स्वरूप अभिव्यक्त हो गया, उसके बाद सदा-सदा के लिए वह परमशान्ति में तल्लीन हो जाता है।

समतादर्शन व्यक्ति से विश्व तक की सभी समस्याओं, विषमताओं एवं द्वन्द्वों को समाप्त कर अमन-चैन को प्रसारित करने में समर्थ है। आवश्यकता है इसे व्यवस्थित रूप से अपनाने की।

महाप्रभु महावीर ने भी स्पष्ट रूप से कहा है—'समियाए धम्मे'—समता में ही धर्म है।

---

१. समतादर्शन की विस्तृत विवेचना—'समतादर्शन और व्यवहार पुस्तक' देखें।

जब तक जीवन में समता नहीं आएगी, तब तक जीवन का उपवन शान्ति से महक नहीं सकता। समता दर्शन के सिद्धान्तों को जन-जन तक कैसे पहुँचाया जाय? इसके लिए मैं तो अपनी संयमीय मर्यादा में रहता हुआ प्रयत्नशील हूँ ही। अवशेष काम श्रावकों का है। मैं तो अपनी सीमाओं में रहकर ही कार्य करता हूं। प्रचार-प्रसार के नाम पर अपनी मर्यादाओं को तोड़ना कतई अभीष्ट नहीं है। मर्यादाओं को तोड़कर काम करने वाले, सुनने वालों को, मर्यादा में सुरक्षित कैसे रख सकते हैं?

समीक्षण के धरातल पर जीवन की विचार-रेखा और समता के आधार पर जीवन की आचार-रेखा तैयार हो तो एक दिन अवश्य ही व्यक्ति से लेकर सारे विश्व तक शांति का उपवन महक उठेगा।

जीवन को मंगलमय बनाइये

- ☐ प्रातःकालीन मंगल हो प्रार्थना से
- ☐ आगमकालीन प्रार्थना
- ☐ प्रातःकालीन प्रार्थना की उपयोगिता
- ☐ वन्दन कैसे करें ?
- ☐ प्रार्थना खुले मुंह न करें
- ☐ उपाश्रय में आते ही क्या करें ?
- ☐ बच्चों के मन को नहलाइये
- ☐ श्रावकों का कर्तव्य साधुओं के प्रति
- ☐ चिन्तन की ऊर्ध्वगामी धारा
- ☐ जीवन को पवित्र बनावें

णिव्वाणवादी णिह णायपुत्ते

सूत्रकृतांग सूत्र ६–२

निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र महाप्रभु महावीर श्रेष्ठ हैं। इस गाथा से महाप्रभु की स्तुति की गई है। जीवन को मंगलमय एवं पवित्र बनाने के लिए महाप्रभु की प्रार्थना का प्रसंग चिरन्तन समय से चला आ रहा है। आगमिक पृष्ठों में भी अर्धमागधी भाषा में महाप्रभु की प्रार्थनाएँ मिलती हैं।

प्रार्थना अपने जीवन की सुषुप्त चेतना को जगाने में परम सहायक सिद्ध होती है। गुणी पुरुषों की वन्दना से जीव में गुणों का संचार हो जाता है।

प्रस्तुत प्रवचन में प्रार्थना, वन्दना कैसे हो? बच्चों के प्रति एवं मुनिराजों के प्रति श्रावक-श्राविकाओं के क्या कर्तव्य हैं? आत्मा के समीक्षण से सिद्धि की प्राप्ति कैसे होती है? आदि विषयों पर सयुक्तिक प्रकाश डाला गया है।

प्रार्थना

शांति जिन मुझ एक वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे ।
आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे ।।

बन्धुओ ! तीर्थंकर देव की प्रार्थना के सिलसिले में आज शांतिनाथ भगवान् की प्रार्थना की कड़ियां उच्चारण के रूप में ली गईं । सब तीर्थंकरों का इस संसार पर बड़ा उपकार है । इन परम उपकारी महापुरुषों के उपकार को बोलने की दृष्टि से भी एवं मंगलाचरण के प्रसंग से भी स्मृति-पटल पर उभारना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बन जाता है ।

प्रातःकालीन मंगल हो प्रार्थना से

प्रार्थना, ऐसे याचना की दृष्टि से भी होती है । व्यक्ति अलग-अलग तरीके से प्रार्थना का प्रसंग उपस्थित करता है । कोई इहलोक की याचना के प्रसंग से प्रार्थना करता है तो कोई किसी मनोरथ की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है । परन्तु ज्ञानीजन किसी भी आकांक्षा के बिना, मंगलाचरण अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं । प्रार्थना के सिलसिले में कभी कुछ व्यक्ति चिन्तन कर बैठते हैं कि जैन-धर्म में प्रार्थना का सिस्टम नहीं है । यह वैदिक संस्कृति या अन्य धर्मों का प्रभाव है । इस प्रकार की भावना बिना सोचे-समझे होती है । जैन धर्म के सिद्धान्त को जिन्होंने समझा है, आगम का अध्ययन किया है, वे महापुरुष जानते हैं कि जैन धर्म में भी प्रार्थना को बहुत बड़ा स्थान है । जैन धर्म में प्रार्थना बड़े-बड़े ज्ञानीजनों ने की है । प्रार्थना का माध्यम भले ही भिन्न रहा हो, परन्तु प्रार्थना की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं आई । माध्यम का तात्पर्य भाषा है, लिपि है । व्यक्ति जिस भाषा पर काबू रखता है, उसी भाषा में प्रार्थना करने की सोचता है । जैसे किसी को संस्कृत भाषा का अभ्यास है, वह संस्कृत में प्रार्थना करेगा और जिसका प्राकृत का अध्ययन है, वह प्राकृत में प्रार्थना करेगा । हिन्दी भाषा पर जो अधिकार रखता है, उसकी प्रार्थना हिन्दी में होगी अथवा उर्दू, अंग्रेजी, फारसी भाषा जो कुछ भी जानता होगा, वह उसमें प्रार्थना करेगा । भाषायें जरूर बदलीं, परन्तु प्रार्थना का रूप नहीं बदला । वैसे ही जैन आगम की दृष्टि से, पहिले के ज्ञानी

प्रार्थना अवश्य करते थे और प्रार्थना के प्रसंग से प्रत्येक चतुर्विध संघ प्रभावित होता था और आज भी है।

आगमकालीन प्रार्थना

पहिले प्रार्थना प्राकृत गाथाओं में हुआ करती थी। 'सूयगडांग'सूत्र में वीर स्तुति नामक छट्ठा अध्ययन, प्राकृत में प्रार्थना का ही एक अध्ययन है। वीर स्तुति का पूरा अध्ययन ही भक्तिरस से सना हुआ है। महाप्रभु की स्तुति उपमाओं से उपमित करके भी की गई है, जैसे कुछ गाथाएं देखिए—

रुक्खेसुणाए जह सामलीवा, जसिरइं वेदयंति सुवन्ना।
वणेसु वानंदणमाहुसेट्ठं नाणेणसीलेणयभूइपन्ने ॥
थणियं व सद्दाण अणुत्तरेउ, चन्दो व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥
जहा संयम उदहीणसेट्ठे, नागेसु वा धरणिंद माहुसेट्ठे।
खाओदए वा रस वेजयन्ते, तवोवहाणे मुणि वेजयन्ते ॥
हत्थीसु एरावणमाहु नाए, सीहोमियाणं सलिलाणगंगा।
पक्खीसु वा गले वेणुदेवो, निव्वाणवादी णिह नायपुत्ते ॥

जैसे वृक्षों में शाल्मली वृक्ष, धातुओं में सोना और वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र में भूतिप्राज्ञ महाप्रभु महावीर श्रेष्ठ हैं। जैसे शब्दों में स्तनित शब्द, ताराओं में चन्द्र, गंधों में चन्दन श्रेष्ठ है, वैसे ही मुनियों में अप्रतिहत विहारी महावीर स्वामी श्रेष्ठ हैं। जैसे समुद्रों में स्वयंभू, नागों में धरणेन्द्र, रसों में क्षीर समुद्र रस श्रेष्ठ है। उसी प्रकार तपोपधानादि में प्रभु महावीर श्रेष्ठ हैं। हाथियों में एरावत हाथी, मृगों में सिंह, नदी समूह में गंगा, पक्षियों में गरुड़ वेणुदेव श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार की 29 गाथाओं से महाप्रभु की स्तुति की गई है।

सामायिक की पाटियों का आप नजदीक से सम्बन्ध रखते हैं। सामायिक करने के लिए सबसे पहिले क्या करते हैं? ध्यान-काउसग्ग करते हैं और उसके पारने

के बाद लोगस्स बोलते हैं फिर सामायिक पचखते हैं। यह लोगस्स की पाटी तो आपके मुंह पर याद है ना ? इस लोगस्स में प्रार्थना है या नहीं ? आखिर में आया है 'सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु' याद है ना ? कि हे सिद्ध भगवन् ! मुझे सिद्धि दीजिए। और जब सामायिक का पाठ पचखलेते हैं तो फिर दो 'नमोत्थुणं' बोलते है ना ? तो यह क्या है ? स्तुति है—प्रार्थना ही तो है। जिसे शक्रस्तव कहते हैं। अत: जैन धर्म में प्रार्थना का प्रचलन नहीं है—ऐसी बात नहीं है। अन्तर केवल इतना ही पड़ा कि प्राचीन काल में प्राकृत भाषा की स्तुति थी और वर्तमान में हिन्दी का प्रसंग आ गया। अभी प्राकृत भाषा की प्रार्थना कदाचिद् कह भी दी जाए तो अर्थ की तरफ विशेष ध्यान करना होगा।

प्रात:कालीन प्रार्थना की उपयोगिता

प्रात:काल के समय पर प्रार्थना का जो हिन्दी में सिस्टम बना तो वह भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि हेतु ही बना है। आम जनता के लिये पहिले सामूहिक रूप से प्रार्थना का प्रसंग नहीं होता था, परन्तु कुछ अर्से से चला। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि का प्रसंग क्या है ? प्रात:काल के समय भव्य जीव सन्त-सतियों के दर्शनों के प्रसंग से पहुँचते हैं और वे प्रत्येक सन्त-सती के दर्शन की दृष्टि से इधर-उधर घूमते अवश्य हैं, मैंने दीक्षा ली तब भी देखा है कि श्रावक-श्राविकाओं की पंक्ति बन जाती और वे मांगलिक सुनते थे—एक से सुनकर दूसरे से और सुनते थे। इसमें होता क्या था कि संत-सती वर्ग जो प्रतिलेखन करते थे—उसमें थोड़ी एकाग्रता चाहिए, अवधानता चाहिए। इधर तो उन्होंने प्रतिलेखन के लिए कपड़ा ऊँचा किया और उधर मांगी मांगलिक। यदि मांगलिक सुनाते हैं तो कपड़े को नीचा रखना होगा और नहीं सुनाते हैं तो कहते हैं कि हमको मांगलिक भी नहीं सुनाते हैं। ये पद्धतियाँ उस समय चल रही थीं। इससे प्रतिलेखन में काफी समय चला जाता था, क्योंकि मांगलिक सुनाते समय प्रतिलेखन रोकना पड़ता। तब सोचा गया कि इस प्रकार से श्रावकों का अस्तव्यस्तपना रहता है और मंगलाचरण का जीवन में सिलसिला एक सरीखा नहीं आता है, सन्त-सतियों के कार्य में भी बाधा आती है। अत: एक सिस्टम बना दिया गया कि प्रतिलेखन आगे-पीछे करके एक साधु प्रार्थना शुरु कर दें और जैसे-जैसे श्रावक-श्राविका—भाई-बहिन आएं, वे प्रार्थना में बैठते जायें और यह समझें कि यह प्रार्थना हमारे मन को शुद्ध बनाने

वाली है और प्रातःकाल का मंगलाचरण चाहिए, अतः सब एक साथ बैठ जायें, तदनुसार अब सब एक साथ एकत्रित होकर इस मंगल प्रसंग पर शामिल हो जाते हैं और सबके मन में एक आनन्द, मंगल की लहर दौड़ जाती है। इस रूप में प्रार्थना चलती है और बाद में सबको एक साथ मंगलपाठ सुना दिया जाता है। सबका एक साथ विधिवत् वंदन भी हो जाता है और आज्ञा में सीर भी एक साथ सामूहिक रूप में हो जाती है। इससे अन्य सन्त-सतियों का समय बच जाता है। सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि के लिए यह परिपाटी स्वीकार की गई है। सभी भाई-बहिनों को प्रातःकालीन मंगल के लिए बिना ननूनच किये प्रार्थना में शामिल हो जाना चाहिए।

वन्दन कैसे करें ?

श्रावक-श्राविकाओं को चाहिये कि यदि साधु-साध्वी, प्रतिलेखन या अध्ययन, स्वाध्याय में तन्मय हों तो दूर से वंदन कर लेना चाहिये। परन्तु कई भाई वन्दन भी करेंगे तो जोर-जोर से बोलेंगे और उनका ध्यान उस तरफ जाएगा, जब वे दयापालो कहेंगे, तब ही उनकी वंदन सार्थक होगा। क्या दयापालो नहीं कहेंगे तो वंदन सार्थक नहीं होगा ? यदि वन्दन, दयापालो कहे तभी सार्थक होता हो तब तो आप अरिहंत-सिद्ध भगवान को भी तो वंदन कर रहे हैं। क्या वे दयापालो कहकर बोल रहे हैं ? और बोलने पर भी जब आपको सन्तुष्टि है कि हम वन्दन कर रहे हैं तो वे देखें या न देखें, कहें या न कहें—परन्तु हमको तो फायदा ही होगा। इसी प्रकार इधर भी सन्तुष्टि करके वन्दन कर लेना चाहिये। वन्दन तो स्वीकार हो ही जाएगा—फायदा होगा ही और जब हम बोलते हैं—उन्हें बुलाने की चेष्टा करते हैं—देखने के लिए मजबूर करते हैं तो उसमें उनको बाधा हो जाती है और जहां हम कर्म तोड़ने के लिए आए, वहां कर्म बांधने वाले भी बन जाते हैं। इस विषय में हर श्रावक-श्राविका को विवेक रखना चाहिये—ध्यान रखना चाहिए। दर्शन की स्थिति, विवेक से हो जाए, तो दूसरों को भी दर्शन हो सकता है। विवेक नहीं रखने से और जोर-जोर से बोलने से कभी-कभी थोड़े कर्म तोड़ते हैं और ज्यादा कर्म बांध लेते हैं। सभ्यता, शिष्टता की दृष्टि से कुछ न कुछ परिवर्तन होना चाहिए।

प्रार्थना खुले मुँह न करें

शांतिनाथ भगवान् की प्रार्थना में भी यही बात आ रही है कि हम भगवान की प्रार्थना करते हैं तो याचना नहीं करते हैं परन्तु हम कह रहे हैं कि शांति का स्वरूप कैसे समझें और मन का समीक्षण कैसे करें ? मन और आत्मा में रहने वाली शांति को कैसे प्रकट करें ? कवि ने जो आध्यात्मिक दृष्टि से कहा उसमें 'शुचि' शब्द आया कि प्रार्थना की विशुद्धि से मन की पवित्रता, वाणी की पवित्रता, आचरण की पवित्रता और उसके साथ आत्म-शुद्धि बनती है। आत्म शुद्धि कब बनती है ? इसके लिए ज्ञानीजनों का कथन है--त्रियोग शुद्धि से आत्म-शुद्धि होती है। कविता में जो 'शुचि' शब्द आया उसका अर्थ है मन को एकाग्र करके, दत्त-चित्त होकर प्रार्थना करना। वाणी के द्वारा यदि उच्चारण करता है तो प्रार्थना के साथ खुले मुंह नहीं बोलना। यदि खुले मुंह बोलता है तो फल में कटौती हो जाती है। प्रार्थना बोलनी हो तो खुले मुंह नहीं बोलनी चाहिए। मैं वैसे कहता ही रहता हूँ। परन्तु व्यक्ति-व्यक्ति को पकड़कर नहीं कहता हूँ। मैं तो सामूहिक रूप में कहता हूँ, एक कपड़ा तो सभी को रखना ही चाहिये। जब प्रार्थना का प्रसंग, वंदन का प्रसंग, मंगलपाठ श्रवण का प्रसंग आए तब कपड़े को मुंह पर बांध लिया जाए तो इससे कोई नुकसान नहीं होता है। इससे आपके द्वारा वायुकाय के जीवों की हिंसा नहीं होगी। प्रार्थना का उच्चारण कर रहे हैं तो यह विवेक होना ही चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि सन्त बोल रहे हैं तो बहिनों को उनकी टेर में टेर नहीं मिलानी चाहिए और सतियां बोल रही हो तो पुरुषों को नहीं मिलानी चाहिए। सब अपनी-अपनी मर्यादा में चलें। श्रावक-श्राविका इधर-उधर घूमने में नहीं लगेंगे और विवेक से प्रार्थना करेंगे तो वाणी में पवित्रता आएगी और जितनी देर प्रार्थना हो रही है, उतनी देर शरीर को रोककर रखेंगे तो आचरण पवित्र होगा।

उपाश्रय में आते ही क्या करें ?

यहां आप बाहर के कार्य नहीं कर रहे हैं। अतः आश्रव का दरवाजा खुला रखकर नहीं बैठें। प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है कि धर्मस्थान में आते ही खड़े होकर पांच नवकार के भांगे से संवर पचख लेना चाहिये। जिससे पांचों ही आश्रवों का त्याग हो जाता है और धर्मस्थान पर घण्टा दो घण्टा रहते हैं तब तक के लिए

आश्रवों द्वारों को रोक लेते हैं। जहां प्रार्थना के स्थल पर आकर वैठें तो सामूहिक रूप से सन्तों से पचख लेना चाहिए और कदाचित ऐसा नहीं हो तो बैठे-बैठे अपने मुंह से पचख लेना चाहिए। (पांच नवकार के आगार से) ऐसा करने से कैसा त्याग का आदर्श आ जाता है। यह विधि-विधान पुराने श्रावक अपने हाथ में रखते थे। वे अपने सन्तानों पर भी धर्म के संस्कार डालते थे।

बच्चों के मन को नहलाइये

माता-पिता का सन्तान के प्रति इतना ही कर्तव्य नहीं होता है, परन्तु प्रार्थना में उनको पास में बैठना चाहिये। आप अपने बच्चों को कैसे नहला-धुलाकर और साफ-सुथरे वस्त्र पहिनाकर स्कूल भेजते हैं, इस विषय में आप ख्याल रखते हैं, परन्तु थोड़ा यह भी ध्यान रखिये कि इनके मन को नहला दूं, जिससे इनकी आत्मा की धुलाई हो जाए। अब आप कहेंगे कि मन से कैसे नहलायें ? यदि बच्चों को प्रार्थना में शामिल कर दिया जाय तो यह मन से धुलाई हो जाती है। थोड़ी देर के लिए भी वह प्रार्थना करेगा तो उसके जीवन पर संस्कार पड़ेंगे और जो बच्चा अन्य-अन्य स्थानों में जाता होगा, जैसे रात को कोई सिनेमा देखकर आया होगा तो वह प्रातःकाल उठते ही वही फिल्मी गायन गुनगुनाता रहेगा। ऐसा नहीं होकर उसके लिए जैसे ही सूर्योदय का प्रसंग हो और प्रार्थना करने का प्रसंग उपस्थित किया जाय तो बच्चे में पवित्रता के संस्कार आएँगे। यदि महाराज गांव-शहर में न हों तो घर पर ही भगवान् की प्रार्थना की जाय तो दिन के सारे कार्य में चुस्ती वनी रहेगी और आत्मा की पवित्रता भी बढ़ेगी। प्रार्थना के बाद बच्चों को शिक्षा भी देनी चाहिए कि आज गुस्सा नहीं करना। गुस्सा करने से बुद्धि खराब होती है और फिर मंगल पाठ सुना दो जिससे प्रातःकाल का समय अच्छी तरह निकले। यह अन्दर का नहलाना-धुलाना हुआ माता-पिता का। अरे ! नहलाना-धुलाना तो माता और धाय माता भी कर देती है। इसमें क्या विशेषता है ? परन्तु उन्हें आत्मा के संस्कार देना चाहिये।

श्रावकों का कर्तव्य : साधुओं के प्रति

साधु-साध्वियों के लिए महाप्रभु ने श्रावकों को 'अम्मापिया' कहा है अर्थात् माता-पिता कहा गया है। माता-पिता को चाहिये कि यदि कभी आत्मा को स्नान

करने वाले साधु-साध्वियों में किसी भी प्रकार की आचरण में कमी आ जाए तो अत्यन्त प्रेम-स्नेह से उन्हें समझाया जाय। गुस्सा करके या उनकी अवहेलना, निन्दा करके समझाने का उपक्रम अम्मापिया का नहीं होता है। इससे सुधरने के स्थान पर बिगड़ने के चांस अधिक रहते हैं।

साधुओं में आई विकृति को किस विवेक के साथ श्रावक निकाले, इसके लिए आप अभी तरुण तपस्वी राममुनिजी से केशरिया मोदक का दृष्टान्त श्रवण कर गए। जब उन मुनिजी को दिन में एषणीय केशरिया मोदक प्राप्त नहीं हुआ तो उस पर छद्मस्थतावश आसक्ति आ जाने से मस्तिष्क में विकृति आ गई, वे अपना भान भूल गए और रात में भी गली-गली में घूमकर केशरिया मोदक की रट लगाने लगे। कई श्रावक ने उन्हें धिक्कारा भी होगा। अर्धरात्रि तक भी उनकी यही स्थिति बनती रही। यही आवाज जब अम्मापिया की पदवी को जीवन में साकार रूप देने वाले जिनदास श्रावकों के कानों में पड़ी, तो उनको समझते देर न लगी कि मुनिजी का मस्तिष्क विकृत हो गया है। जिनदास श्रावक, मुनियों का सही माने में अम्मापिया था। उसने तुरन्त उठकर बाहर आकर न तो मुनिजी पर गुस्सा किया और न ही उनकी अवहेलना की। क्योंकि इस प्रकार करने से सुधार नहीं होता। बल्कि श्रावक ने उनका विधिवत् आदर सत्कार करके घर में प्रवेश कराया और केशरिया मोदक बहराया। तदनन्तर जब उन्हें केशरिया मोदक से पात्र के भर जाने से सन्तुष्टि हो गई, तब उनका दिमाग भी सन्तुलित बन गया।

योग्य अवसर देखकर जिनदास श्रावक ने कहा—भगवन्! कितना समय हुआ होगा। तब मुनिराज ने आकाश की ओर देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ, अरे! रात्रि हो गई है, अन्धकार छा गया। अर्धरात्रि का समय हो चुका है। साधु को तो सूर्यास्त के पहले-पहले उपाश्रय में पहुँच जाना चाहिये। मैं इस केशरिया मोदक के पीछे सब कुछ भूलकर कहां भटक गया हूं? धिक्कार है, मेरी आत्मा को। घर-बार सब कुछ छोड़कर भी मेरी मोदक के प्रति आसक्ति नहीं मिटी। मुनिराज ने श्रावक से कहा—श्रावकजी! मेरी भूल हो गई है। मुझे ख्याल ही नहीं रहा कि रात्रि हो गई है। इस केशरिया मोदक की आसक्ति से मेरा मस्तिष्क विकृत बन गया और मैं भान भूल बैठा। 'न मेकप्पई तारिसं' रात्रि में लिया यह आहार करना मुझे मन से भी नहीं कल्पता है। मैं अपने आपमें अत्यन्त लज्जित हूं।

जिनदास श्रावक ने सोचा—मुनि श्री स्वगत में आ गए हैं। इन्होंने अन्तर दिल से पश्चाताप किया है। श्रावक ने निवेदन किया—भगवन्! कोई बात नहीं,

आश्रवों द्वारों को रोक लेते हैं। जहां प्रार्थना के स्थल पर आकर वैठें तो सामूहिक रूप से सन्तों से पचख लेना चाहिए और कदाचित ऐसा नहीं हो तो वैठे-वैठे अपने मुंह से पचख लेना चाहिए। (पांच नवकार के आगार से) ऐसा करने से कैसा त्याग का आदर्श आ जाता है। यह विधि-विधान पुराने श्रावक अपने हाथ में रखते थे। वे अपने सन्तानों पर भी धर्म के संस्कार डालते थे।

वच्चों के मन को नहलाइये

माता-पिता का सन्तान के प्रति इतना ही कर्तव्य नहीं होता है, परन्तु प्रार्थना में उनको पास में वैठना चाहिये। आप अपने वच्चों को कैसे नहला-धुलाकर और साफ-सुथरे वस्त्र पहिनाकर स्कूल भेजते हैं, इस विषय में आप ख्याल रखते हैं, परन्तु थोड़ा यह भी ध्यान रखिये कि इनके मन को नहला दूं, जिससे इनकी आत्मा की धुलाई हो जाए। अव आप कहेंगे कि मन से कैसे नहलायें ? यदि वच्चों को प्रार्थना में शामिल कर दिया जाय तो यह मन से धुलाई हो जाती है। थोड़ी देर के लिए भी वह प्रार्थना करेगा तो उसके जीवन पर संस्कार पड़ेंगे और जो वच्चा अन्य-अन्य स्थानों में जाता होगा, जैसे रात को कोई सिनेमा देखकर आया होगा तो वह प्रातःकाल उठते ही वही फिल्मी गायन गुनगुनाता रहेगा। ऐसा नहीं होकर उसके लिए जैसे ही सूर्योदय का प्रसंग हो और प्रार्थना करने का प्रसंग उपस्थित किया जाय तो वच्चे में पवित्रता के संस्कार आएँगे। यदि महाराज गांव-शहर में न हों तो घर पर ही भगवान् की प्रार्थना की जाय तो दिन के सारे कार्य में चुस्ती वनी रहेगी और आत्मा की पवित्रता भी वढ़ेगी। प्रार्थना के वाद वच्चों को शिक्षा भी देनी चाहिए कि आज गुस्सा नहीं करना। गुस्सा करने से वुद्धि खराव होती है और फिर मंगल पाठ सुना दो जिससे प्रातःकाल का समय अच्छी तरह निकले। यह अन्दर का नहलाना-धुलाना हुआ माता-पिता का। अरे ! नहलाना-धुलाना तो माता और धाय माता भी कर देती है। इसमें क्या विशेषता है ? परन्तु उन्हें आत्मा के संस्कार देना चाहिये।

श्रावकों का कर्तव्य : साधुओं के प्रति

साधु-साध्वियों के लिए महाप्रभु ने श्रावकों को 'अम्मापिया' कहा है अर्थात् माता-पिता कहा गया है। माता-पिता को चाहिये कि यदि कभी आत्मा को स्नात

करने वाले साधु-साध्वियों में किसी भी प्रकार की आचरण में कमी आ जाए तो अत्यन्त प्रेम-स्नेह से उन्हें समझाया जाय। गुस्सा करके या उनकी अवहेलना, निन्दा करके समझाने का उपक्रम अम्मापिया का नहीं होता है। इससे सुधरने के स्थान पर बिगड़ने के चांस अधिक रहते हैं।

साधुओं में आई विकृति को किस विवेक के साथ श्रावक निकाले, इसके लिए आप अभी तरुण तपस्वी राममुनिजी से केशरिया मोदक का दृष्टान्त श्रवण कर गए। जब उन मुनिजी को दिन में एषणीय केशरिया मोदक प्राप्त नहीं हुआ तो उस पर छद्मस्थतावश आसक्ति आ जाने से मस्तिष्क में विकृति आ गई, वे अपना भान भूल गए और रात में भी गली-गली में घूमकर केशरिया मोदक की रट लगाने लगे। कई श्रावक ने उन्हें धिक्कारा भी होगा। अर्धरात्रि तक भी उनकी यही स्थिति बनती रही। यही आवाज जब अम्मापिया की पदवी को जीवन में साकार रूप देने वाले जिनदास श्रावकों के कानों में पड़ी, तो उनको समझते देर न लगी कि मुनिजी का मस्तिष्क विकृत हो गया है। जिनदास श्रावक, मुनियों का सही माने में अम्मापिया था। उसने तुरन्त उठकर बाहर आकर न तो मुनिजी पर गुस्सा किया और न ही उनकी अवहेलना की। क्योंकि इस प्रकार करने से सुधार नहीं होता। बल्कि श्रावक ने उनका विधिवत् आदर सत्कार करके घर में प्रवेश कराया और केशरिया मोदक बहराया। तदनन्तर जब उन्हें केशरिया मोदक से पात्र के भर जाने से सन्तुष्टि हो गई, तब उनका दिमाग भी सन्तुलित बन गया।

योग्य अवसर देखकर जिनदास श्रावक ने कहा—भगवन्! कितना समय हुआ होगा। तब मुनिराज ने आकाश की ओर देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ, अरे! रात्रि हो गई है, अन्धकार छा गया। अर्धरात्रि का समय हो चुका है। साधु को तो सूर्यास्त के पहले-पहले उपाश्रय में पहुँच जाना चाहिये। मैं इस केशरिया मोदक के पीछे सब कुछ भूलकर कहां भटक गया हूं? धिक्कार है, मेरी आत्मा को। घर-बार सब कुछ छोड़कर भी मेरी मोदक के प्रति आसक्ति नहीं मिटी। मुनिराज ने श्रावक से कहा–श्रावकजी! मेरी भूल हो गई है। मुझे ख्याल ही नहीं रहा कि रात्रि हो गई है। इस केशरिया मोदक की आसक्ति से मेरा मस्तिष्क विकृत बन गया और मैं भान भूल बैठा। 'न मेकप्पई तारिसं' रात्रि में लिया यह आहार करना मुझे मन से भी नहीं कल्पता है। मैं अपने आपमें अत्यन्त लज्जित हूँ।

जिनदास श्रावक ने सोचा—मुनि श्री स्वगत में आ गए हैं। इन्होंने अन्तर दिल से पश्चाताप किया है। श्रावक ने निवेदन किया–भगवन्! कोई बात नहीं,

छद्मस्थतावश ऐसा हो जाता है लेकिन धन्य है आपको कि अपनी भूल सुधारकर आत्म-शुद्धि कर ली । अब आप फरमायें तो आपको उपाश्रय में पहुँचा दूँ और आप चाहें तो मेरे मकान में ही अलग से धार्मिक प्रकोष्ठ है, रात्रि वहां व्यतीत कर सकते हैं । मुनिराज ने रात्रि में जाना उपयुक्त न समझकर श्रावक के अलग प्रकोष्ठ में ही रात्रि-व्यतीत करना उपयुक्त समझा ।

चिन्तन की ऊर्ध्वगामी धारा

प्रकोष्ठ में प्रवेश करने के साथ ही मुनिराज की चिन्तन धारा ने सम्यक् मोड़ लिया । वे अपने आपकी निन्दा, गर्हा करने लगे । अहो, मैं कितना आसक्ति में भटक गया । मेरा जीवन एक मोदक के पीछे उच्चतम सोपानों से गिरकर अंधकूप में उतर गया । धन्य है, इस श्रावक को जिसने मुझे गिरते-गिरते बचा लिया । यह आसक्ति, यह मोह, यह बन्धन निश्चय ही आत्मा के लिए महान घातक है । मुझे सभी बन्धनों से हटकर आत्मशांति पाना है । मुनिराज की विचारधारा ऊर्ध्वगामी बनी । समीक्षण का प्रवाह उनकी आत्मा को स्नात करने लगा । कर्मों का मलिमल धुलने लगा । मुनिराज गुणस्थानों पर आरोहण करते हुए क्षपक श्रेणी पर चढ़ गए और एक के बाद एक कर्म को काटने लगे । कुछ ही क्षणों के मन-वचन-काया की परम पवित्रता ने चमत्कार दिखाया—मुनिराज घनघातिक कर्म-क्षय कर सर्वज्ञ हो गए, केवली हो गए ।

जीवन को पवित्र बनावें

देखिए ! महामुनि का जीवन कहां से कहां पहुँच गया । श्रावक जिनदास के मधुर व्यवहार ने उनके जीवन में कैसा अद्भुत परिवर्तन ला दिया । श्रावक हो तो ऐसे हों जो साधुओं में आई विकृति को विवेक के साथ समाप्त कर दें । आप सब को इससे शिक्षा लेनी चाहिये । जीवन को पवित्र बनाने के लिए अपने कर्तव्यों को समझें । साथ ही विचारों का समीक्षण करें । उच्चारण और आचरण, समीक्षण से अनुरंजित हो । जब हमारा हर विचार, हर उच्चारण, हर आचरण में समीक्षणता आ जाएगी तो आप निश्चय मानिये, मुक्ति में जाते कोई देरी नहीं लगेगी । आत्मा का परम पवित्र स्वरूप निखर उठेगा । परमात्म रूप उजागर हो जाएगा । जीवन का लक्ष्य सफल हो जाएगा । जो भी इस प्रकार से आगे बढ़ेगा; उसी का परम कल्याण होगा ।

समीक्षण करो, जड़ और चैतन्य का

- समीक्षण करो आत्मा के स्वभाव-विभाव का
- दशा स्वभाव और विभाव की
- आत्मस्वभाव के शत्रु—जर, जोरू और जमीन
- आत्मा का स्वभाव—सिद्धत्व रूप
- चिन्तन करिये ब्रह्ममुहूर्त में
- समीक्षण करिये—जड़ और चैतन्य का
- सम्यक् पराक्रम हो, पर जड़ के लिए नहीं
- नियमित समय पर चिन्तन करिये
- शुद्ध अवलंबन आदरो

अरइं आउट्टे मेहावी खणंसि मुक्के
आचारांग सूत्र

अरति को प्राप्त मेधावी, क्षण भर में मुक्त हो जाता है।

आत्मा और जड़-कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। इस सम्बन्ध को तोड़ने के लिए स्वभाव और विभाव का समीक्षण आवश्यक है। जब आत्मा विभाव—जर-जोरू और जमीन से हटकर स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए सत् पुरुषार्थ-प्रयत्नशील बनती है, तब अनन्त शांति का स्वरूप अभिव्यक्त होने लगता है।

चिन्तन की गहराइयों में उतरें, शुद्ध स्वरूप का अवलम्बन लें और परम स्वरूप प्राप्त करें।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे ।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे ।।
आगमधर गुरु समकिति, क्रिया संवर सार रे ।
सम्प्रदायी अवंचक सदा शुचि अनुभव धार रे ।।
धन्य तू आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे ।
धीरज मन धरी सांभलो, कहूं शांति प्रतिभास रे ।।

बन्धुओ ! बीमार व्यक्ति औषधि को याद करता है, प्यासा व्यक्ति पानी पीने की तलाश में रहता है, जिस-जिस वस्तु की जिस-जिस को अभिलाषा रहती है, वह अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए उसका तत्क्षण तो ध्यान रखता ही है, परन्तु नियमित रूप से समय-समय पर इस बात को दुहराया भी करता है ।

समीक्षण करो आत्मा के स्वभाव और विभाव का

संसार की आत्माएँ जिन परिस्थितियों से गुजर रही हैं, जिस प्रकार से उन पर बीत रही है, उससे उनको शांति अथवा सन्तोष का अनुभव नहीं हो रहा है । व्यक्ति कितना भी सम्पन्न बन जाए और बनता ही चला जाए परन्तु सन्तोष वृत्ति नहीं आती । इसलिए अरबों-खरबों की सम्पत्ति भी इकट्ठी कर लेता है, फिर भी शांति का अनुभव नहीं कर पाता । यह एक ऐसी वितृष्णा है कि जिससे कभी भी सन्तुष्टि का अनुभव नहीं होता ।

ज्ञानीजनों का कथन है कि सन्तुष्टि होवे कैसे ? जिस वस्तु की चाह है, वह नहीं मिलती है और उसके बदले में दूसरी मिले-तो उसकी चाह पूरी नहीं होती । प्यास बुझाने वाले, ठंडक देने वाले जो पानी की चाह करता हो, उसे यदि उबलता हुआ शीशा पिला दिया जाए तो उससे उसकी प्यास नहीं बुझती । जिसको गर्मी लग रही है वह चाह करता है ठण्डे पानी की, परन्तु मिला उबलता हुआ पानी—अब पानी तो वह भी है और यह भी है परन्तु उस पानी में और इस पानी में रात और दिन का अन्तर है । जो शुद्ध ठण्डा पानी है वह प्यास बुझाने में समर्थ है और जो अशुद्ध गर्म बन गया, वह प्यास बुझाने में समर्थ नहीं है । अशुद्ध बनने का तात्पर्य है कि अपने निज स्वभाव से विपरीत बन गया । पानी का निज स्वभाव ठण्डा है, प्यास बुझाने

का है। परन्तु गर्मी के सम्पर्क से, आग की वजह से उसके स्वभाव में गर्मी आ गई, बहुत खौलने लगा। यह जो गर्मी पानी में आई है, वह पानी का वास्तविक स्वभाव नहीं है। यह तो पर पदार्थ के निमित्त से होने वाला स्वभाव है। पर स्वभाव की योग्यता उसमें रही हुई हैं। इसलिए अग्नि के सम्पर्क से वह गर्म बन गया। अतः इस गर्म पानी से प्यास नहीं बुझती। वैसे ही यह आत्मा अपने आपके, निज के स्वभाव से परमशांति और परम सुखमय है। इस आत्मा को उसी की चाह है परन्तु व्यक्ति उस चाह की पूर्ति न करके सुखाभास की पूर्ति करता है। आत्मा में शांति कैसे प्रकट हो? उसका उपाय नहीं करके, पर पदार्थों को ही संग्रह करने की कोशिश करता है। जितना-जितना इन पदार्थों का सम्पर्क मिलता है, उतने-उतने मायने में इस आत्मा में गर्मी आती है। यह आत्मस्वभाव के विपरीत ही गर्म बनती है।

दशा स्वभाव और विभाव की

मनुष्य शांति के साथ बगीचे में घूम रहा है। पुष्पों को निहार रहा है, सुगन्ध ले रहा है। उन अनेक पुष्पों में से एक फूल ऐसा नजर आया जो कि उसके मन को आकर्षित करने वाला था। उसकी इच्छा हो गई कि मैं इस फूल को ग्रहण करूँ। इस फूल के साथ मेरा संयोग हो। ऐसा सोचकर वह उस पुष्प को ग्रहण करने के लिए जब आगे बढ़ा कि इतने ही में उसी फूल को दूसरे ने पसन्द कर लिया। उस जाति का वह एक ही पुष्प है और उस फूल को लेने वाले दो व्यक्ति तत्पर हो गए। पहिला व्यक्ति कहता है कि यह पुष्प मैंने देखा है, अतः मैं लूंगा और दूसरा कहता है कि पहले मैंने देखा है तो मैं लूंगा। दोनों जब घूमने के लिए निकले, तब तो कोई गर्मी नहीं थी, तनाव नहीं था और संघर्ष की कोई बात नहीं थी। परन्तु जैसे ही उस फूल को देखा कि फूल को पाने को दोनों के मन में इच्छा हो जाती है और दोनों के मन में ऊष्णता आ जाती है। पहला व्यक्ति तो चाहता है कि यह फूल मैं लूंगा और दूसरा सोचता है कि इस व्यक्ति की पिटाई करके भी इस फूल को लूंगा। बन्धुओ! यह जो आत्मा में गर्मी आई वह किस कारण से आई? क्या फूल का स्वभाव है ऐसा? फूल की दृष्टि है? नहीं। परन्तु उस फूल को उन्होंने अपना बनाने की चेष्टा की तभी गर्मी आई। वैसे ही आत्मा का मौलिक स्वभाव तो शांत-प्रशांत रहता है। किन्तु जब उसके साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होता है तो वह मोहाभिभूत आत्मा, उन इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वस्तुओं को लेने के लिए दौड़ लगाती है। ऐसी दौड़ एक नहीं अनेक आत्माएँ लगा रही हैं। यद्यपि उन वस्तुओं में वास्तविक शांति नहीं है, तथापि सुखाभास कराने वाली

वस्तुएँ भी सीमित ही हैं और उन्हें पाने वाले अनेक हैं। तब दृष्टि विषम बनती है, आत्मा में गर्मी आती है, कषाय उबलने लगते हैं। आत्मा की शान्त-प्रशान्त अवस्था वैभाविक रूपों में परिणत हो जाती है। यह सब विषम दृष्टि का परिणाम है, अतः दृष्टि को समीक्षणमय बनाया जाय। आचार-व्यवहार समीक्षण अनुरंजित हो, तो आत्मा बाहरी तत्वों से हटकर अपने शांत-प्रशांत स्वरूप को प्राप्त कर सकेगी।

आत्म-स्वभाव के शत्रु : जर-जोरू और जमीन

रुकमणी एक राजकन्या थी। स्वाभाविक रूप से उसकी पूर्व पुण्यवानी से वह रूपवती और गुणवती थी। वह चाहती थी श्रीकृष्ण को, और शिशुपाल चाहता था उसको। तो दोनों में संघर्ष छिड़ा। यह आप जानते ही हैं, कितना संघर्ष-घमासान युद्ध हुआ। कितनी गर्मी आ गई ? और कितना आत्मा ने कर्मबन्धन किया, कितनी आत्माएँ अधम गति में गईं ? यह संघर्ष जोरू के कारण हुआ। देखिए! सीता एक थी। परन्तु रावण कहता था कि मैं रख लूं जबकि राम कहते हैं कि मेरे साथ शादी हुई है, अतः मैं रखूंगा। बस इसी में संघर्ष हो गया। यह संघर्ष जोरू-औरत के कारण हुआ। बन्धुओ! गर्मी, संघर्ष आने के तीन कारण हैं—जर, जोरू और जमीन। कहिए, जर जानते हैं ? क्यों नहीं जानें। अरे! इसके पीछे तो रात-दिन घूमते हैं। राग, द्वेष, लड़ाई, झगड़े, संघर्ष, क्लेष, इन तीनों के पीछे ही तो है। महाभारत के संघर्ष का एक कारण जमीन भी था। जब दुर्योधन थोड़ी सी भी जमीन पाण्डवों को देने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब महाभारत का युद्ध हुआ और हजारों-लाखों लोग मारे गये। जर, जोरू और जमीन का सघर्ष तब तक रहेगा जब तक आत्मा का मौलिक स्वरूप अभिव्यक्त न हो। ये तीनों ही तत्व, आत्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति में मूलभूत बाधक तत्व हैं।

आत्मा का स्वभावःसिद्धस्वरूप

ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है कि मूल में तो यह आत्मा सिद्धों के समान पवित्र स्वरूप वाली है। जैसा कि दोहे की कड़ियों में बतलाया है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय॥

बन्धुओ ! कैसी बड़ी बात है कि जहां सिद्ध भगवान् का नाम आता है तो अन्तर में शांति की झलक उठती है। सिद्ध भगवान् अपने निज स्वरूप को पा गए। उन्हें पर पदार्थों के संयोग की कोई आकांक्षा नहीं रही। सिद्ध भगवान् अनन्त सुख में, अनन्त शान्ति में तन्मय हो गए। वे यद्यपि सदा से सिद्ध नहीं थे। उनकी आत्मा किसी रोज हमारी आत्मा के समान थी। जैसे हम शरीर को लेकर चल रहे हैं वैसा ही शरीर उन सिद्ध भगवान की आत्मा ने धारण किया था। जिस प्रकार से आजकल संसारी आत्माएँ मुग्ध होकर—आसक्त होकर कर्म-बंधन कर रही हैं—इसी प्रकार सिद्ध भगवान् की आत्मा जब इस शरीर में थी, तब कर्म बंधन करती थी। लेकिन उनके मन में एक जिज्ञासा पैदा हुई थी कि मुझे सुख और शांति मिले। तब उस सुख और शांति को पाने के लिए सिद्ध भगवान् की आत्मा भी इन पर पदार्थों के पीछे दीवानी बनती थी—लड़ती-झगड़ती थी और कर्म-बन्धन करती थी। परन्तु ऐसा करते हुए जिस रोज उनको यह ज्ञान हो गया, उसी रोज उन्होंने अपने आपमें चिन्तन किया कि हे आत्मन् ! तू वास्तविक सुख चाहता है तो तू उसके लिए वैसे ही पदार्थों का संयोग जुटा। तेरे से विपरीत स्वभाव जो रख रहे हैं, उन पदार्थों की तरह तू तवज्जह मत दे, ख्याल मत कर। इस प्रकार का सच्चा ज्ञान जब उन आत्माओं को हुआ तो उन्होंने धीरे-धीरे पर पदार्थों का त्याग किया और स्वरूप में रमण करने लगी और एक दिन वह भी आया कि आठों कर्मों को नष्ट कर सदा-सदा के लिए सिद्ध स्वरूप में विराज गई।

सिद्ध स्वरूप को पाने के लिए हमारे जैसी आत्माएँ किस योनि में कैसे कितनी रही थी ? इसका पता नहीं। परन्तु ज्ञानीजन जानते हैं कि यह आत्मा किन-किनके साथ रिश्तेदारी धारण करके आई है। उनमें कई आत्माएँ तो सिद्ध अवस्था में पहुँची हुयी होंगी और हम इस संसार में रखड़ते-रखड़ते पंचम काल में आ गए और इस शरीर में रहे हैं। यह पंचमकाल इतना भयंकर नहीं कि जितना आगे का है। यदि इसमें भी, समझ जाते हैं और निज स्वरूप में पहुँच जाते हैं तो पर पदार्थों में फिर आसक्ति नहीं बनेगी।

चिन्तन करिये ब्रह्ममुहूर्त में

कभी क्या प्रातःकाल की प्रशान्त अवस्था में बैठकर संकल्प किया ? विचार किया ? कहिए पारसमलजी ! क्या कहूँ मैं ? समय तो मिलता ही है। उठकर पहिले

क्या करते हो ? किस को याद करते हो ? आप स्वयं जानते हो कि हम किसको याद करते हैं ? अरे ! जिस पदार्थ की अत्यधिक चाह है उसको ही उठते उठते याद करते हो। यदि कल कुछ नामा-जमा करना बाकी रह गया और याद आया तो जल्दी से उठकर उसको तैयार करोगे। यह तो आप प्रतिदिन याद करते है। परन्तु क्या ही अच्छा हो कि इस ब्रह्म-मुहूर्त में और शांत वातावरण में उस प्रभु को याद कर लो। अन्तःकरणपूर्वक यह कहें कि हे जीव ! हे आत्मा ! तू अपने आपको कैसा समझकर चल रही है ? तू जीव है, परन्तु साधारण जीव नहीं है ! सिद्धों जैसा जीव है और जीव ही सिद्ध होता है। अन्य कोई निर्जीव सिद्ध नहीं होता।

समीक्षण करिये जड़ और चैतन्य का

देखिए ! यह खम्भा जो आज आपको सहारा दे रहा है, यह क्या सिद्ध हो सकेगा ? कहो भाई बुधमलजी चौपड़ा ! यह जीव है या जड़ है ? उत्तर-जड़ है। ठीक बात है। जड़ और चेतन की पहिचान है। जड़ कभी तीन काल में सिद्ध नहीं होता और चेतन तीन काल में भी जड़ नहीं होता। यह आप निश्चित रूप से समझिए। पर्याय बदलती रहती है। दूध में पानी मिल जाता है। देखने पर दूध ही दूध दिखता है। परन्तु इस समय में दूध के परमाणु पानी नहीं हुए और पानी के परमाणु दूध नहीं हुए। परन्तु दूध में पानी घुल मिल गया, इसलिए इस वक्त पानी दूध कहलाएगा। परन्तु यदि मशीन से, यन्त्र से पानी को अलग करना चाहें और दूध को अलग करना चाहें तो कर सकते हैं। इसी प्रकार यह चैतन्य शक्ति द्रव्यत्व से स्थायी और पर्याय से एक दूसरे में परिणत होती है। जब यह आत्मा सही रूप में ज्ञान के साथ अरति को प्राप्त कर ले तो इसको मुक्त होने में देर नहीं लगेगी। आचारांग-सूत्र में भगवान महावीर ने कहा कि 'अरई आउट्टे मेहावी खणंसि मुक्के' अरति को प्राप्त आत्मा की एक क्षण में मुक्ति हो सकती है। परन्तु वह क्षण वैसा ही आए। उस क्षण की साधना उसी ढंग की बने। आज हम क्षणों को नहीं समझ रहे हैं और जड़ की उपासना में लग रहे हैं। जड़ ही जड़ की चारों ओर साधना कर रहे हैं। कन्हैयालालजी, सुनते हो न ! किस की उपासना कर रहे हो ? बोले जड़ की। धन-रुपये-पैसों की। अरे ! अनादिकाल हो गया इस जड़ को पाते-पाते और फिर भी तुष्टि-सन्तोष नहीं हुआ, तृप्ति नहीं हुई। जरा विचार तो करो। जड़ का तात्पर्य केवल यह खम्भा ही नहीं—यह पाटा भी जड़ है। सोना, चांदी जो शुद्ध रूप में आए, वे भी जड़ और नोट भी जड़ हैं। कपड़ा और घड़ी क्या चैतन्य

हैं ? जड़ हैं। यह घड़ी बोलती तो है। आप सोए हुए हो और यह समय पर झट से आवाज लगा देती है। टन-टन यह बोल रही है जरूर परन्तु स्वतः नहीं बोल रही है। यह यन्त्र है और जड़ है। इसको बुलाने वाला चैतन्य है। चैतन्य ने ही इसको बनाया है और वही चाबी भरता है और ठीक उसी नम्बर पर जब सुइयां आती हैं तो टन-टन की आवाज आती है। कम्प्यूटर बोलता है—तो वह स्वतः नहीं बोलता है, उसे बुलवाने वाला है। जो चैतन्यवान है, अतः उस चैतन्य शक्ति को समझो, विचार करो। चैतन्य अलग है और जड़ अलग है। अनादिकाल से चैतन्य का जड़ से सम्पर्क रहा हुआ है। इसीलिए जो इसके नहीं है, उनको अपना मानता आया है। इसीलिए क्लेष और संघर्ष बढ़े हैं। परिणामस्वरूप कर्म बांधकर नरक; तिर्यंच, मनुष्य और देव गति न जाने किन-किन गतियों में यह आत्मा भटक आई है। यह आत्मा किसके कारण से भटकी हैं ? उत्तर होगा कर्म के कारण से। कर्म क्यों किये ? तो उत्तर मिलेगा जड़ के कारण ? जरा समझ पूर्वक पकड़िये और जड़ को जड़ के रूप में और चैतन्य को चैतन्य के रूप से समझिए। यदि प्रारम्भ में इतना भी भेद-विज्ञान आ जाता है तो एक दिन उनका जड़ से विलगीकरण भी होता है।

सम्यक् पराक्रम हो, पर जड़ के लिए नहीं

जड़ से चैतन्य को अलग कर उसका स्वरूप जाग्रत करने के लिए आत्मा जो पुरुषार्थ करती है, उसका वह पुरुषार्थ सम्यक्त्वपूर्वक होना आवश्यक है किन्तु मोहासक्त प्राणी जड़ के लिए पराक्रम करते हैं। जड़ के लिए रात और दिन जूझते रहते हैं। जड़ के लिए सारी जिन्दगी समर्पित कर देते हैं। करोड़ों की सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं, वह भी जड़ ही है। लेकिन उसके पीछे चैतन्य आत्मा की कैसी दुर्दशा कर रहे हैं। इस जड़ सम्पत्ति के लिए आत्मा को समर्पित कर रहे हैं। परन्तु बतलाइये कीमत जड़ की है या चैतन्य की ? क्या बात है दूगड़जी ! मेरी बात नहीं सुन पाए शायद ? क्या कह रहा हूँ मैं ? थोड़े जमाईजी के आसन से बैठिए। यह पटेल का आसन थोड़ी नींद ले आता है। महत्व जड़ का है या चैतन्य का ? मेरे सामने तो कह रहे हैं चैतन्य का। यहां तो कैसे बोलेंगे कि जड़ का महत्व है ? परन्तु अन्तःकरण से जड़ का महत्व समझते हैं या चैतन्य का ? काम खरा-खरी का है। जगत् में जड़ का महत्व गिना जा रहा है। चैतन्य को तो नौकर समझकर घसीटते जा रहे हो। तभी तो यह चैतन्य अवमूल्यन की स्थिति में जा रहा है।

भटका जा रहा है। जब यह भान हो जाएगा कि मैं चैतन्य शक्ति को कैसे बर्बाद कर रहा हूं तब सही तथ्य ज्ञात हो पाएगा कि अरे मैं जो सम्राट् हूँ वह गुलाम बन रहा हूं और गुलाम को सम्राट् के सिंहासन पर बैठा रहा हूँ। ऐसा सच्चा भान होते ही सत्पुरुषार्थ से निजस्वरूप को प्रकट करने में देरी नहीं लगेगी।

बादशाह को खुश करो, गुलाम को नहीं

स्व. आचार्य गुरुदेव इसी बात को एक रूपक के रूप में बड़े ही रोचक ढंग से फर्माते थे। बादशाह एक गुलाम के साथ दोस्ताना रखता था। वह उसका प्रिय गुलाम था। उसके बिना बादशाह जनाब को चैन नहीं पड़ती थी। राज्य की व्यवस्था करने के लिए जब तख्त पर जाकर बैठते तो उनके, वह गुलाम पास में होना ही चाहिए। उसके बिना वे राज्य सिंहासन पर बैठकर अच्छी तरह काम भी नहीं कर सकते थे। इतना बादशाह उस पर आसक्त बना हुआ था। एक दिन बादशाह राज्य सभा में पहुँचा. परन्तु गुलाम दृष्टि में नहीं आया तो बादशाह बेचैन हो गये और पूछा–कहां है मेरा गुलाम ? एक सभासद ने कहा–हुजूर ! यहां तो हाजिर नहीं हैं—घर पर–मकान पर होगा ? तो बादशाह ने कहा—उसको जल्दी बुलाकर लाओ। उसे बुलाने व्यक्ति गया और गुलाम से कहा कि जल्दी चलो। बादशाह सलामत बेचैन हैं। यह सुनते ही उसने सोचा कि बादशाह मेरे लिए बेचैन है तो थोड़ा आज मजबूत रहो, वह नहीं गया। दूसरा व्यक्ति आया, तीसरा आया फिर भी नहीं गया। तो बादशाह स्वयं उसके यहां चलकर गए। बादशाह को देखते ही वह गुलाम मुंह फेरकर सो गया। अब बादशाह उसकी दाढ़ी पर हाथ फेरते हैं, उसे पपोलते हैं—और कहते हैं खुश हो जा। परन्तु वह खुश नहीं हुआ। बादशाह कहता है कि दस हजार का कंठा दे दूं—खुश हो जा। और दस हजार का कंठा उतारकर उसे दे भी दिया। तब गुलाम ने देखा कि रूसने में मजा आता है। मैं थोड़ासा रूसा तो बादशाह आए और थोड़ा और रूसा तो दस हजार का कंठा मिला। अब थोड़ा सा और रूसूगा तो और भी मिलेगा। बादशाह ने कहा– अरे ! अब तो मान जा। ले दस हजार की जागीरी देता हूं और जागीर का परवाना लिखने वाले ही थे कि इतने में बीरबल आ गया। वह सभा में गया था और बादशाह सलामत को सिंहासन पर नहीं देखा तो लोगों से पूछा कि जहांपनाह कहां गए हैं ? तब मालूम हुआ कि वे गुलाम को मनाने के लिए उसके मकान पर

गए हैं। बीरबल सीधा गुलाम के घर गया और जाते ही देखा कि बादशाह सलामत गुलाम को मना रहे हैं और कुछ लिख रहे हैं। तो बीरबल को देखते ही बादशाह ने कहा—आ आ आजा, तू भी ठीक समय पर आ गया। बीरबल ने पूछा—हुजूर! आज यहां कैसे तशरीफ लाए? तब बादशाह ने कहा अरे! तुझे मालूम नहीं है क्या? यह मेरा गुलाम रूस गया है तो मैं इसको मनाने के लिए आया हूँ। मैंने दस हजार का कंठा दिया तो भी मानने को तैयार नहीं और अब मैं दस हजार की जागीरी लिख रहा हूँ। यह देख, बीरबल ने कहा—जहांपनाह! आप सिंहासन पर जाकर विराज जाइये। तब बादशाह ने कहा—बीरबल! गुलाम के बिना मेरा मन नहीं लगता है। बीरबल ने कहा मैं खुशकरके अभी लाता हूं। आप फिकर मत करिये। बीरबल पर विश्वास था बादशाह को, अतः वे तो सिंहासन पर जाकर बैठ गये, और इधर बीरबल ने गुलाम के एक चांटा मारकर कंठा छीन लिया और कहा–गुलाम! तुझे शर्म आनी चाहिए कि बादशाह स्वयं चलकर आए और फिर भी तू खुश नहीं हुआ। चल उठ जा, और फिर भी नहीं उठा तो एक चांटा और जड़ दूंगा। अब प्रसन्न हो जा और प्रसन्न मुद्रा से बादशाह के पास चल नहीं तो पूरी पिटाई कर दूंगा। भाई! लातों के देव बातों से नहीं मानते हैं। बीरबल ने उसको कहा—तू बादशाह के पास जाते ही कहना कि मैं खुश हूं। बीरबल की मार से गुलाम घबरा गया और जल्दी से उठा और सभा में जाकर कहने लगा–मैं बहुत खुश हूँ। बादशाह ने पूछा—अब तो खुश है न! तो कहा कि हां मैं बहुत खुश हूँ। वह आगे-आगे भाग रहा है। तो खुशी के कारण भाग रहा था या मार के कारण भाग रहा था? बादशाह के पास गया और कहने लगा, मैं बहुत खुश हूं। अब मैं कभी नाराज नहीं होऊँगा। बादशाह ने बीरबल से कहा—अरे! तुमने इसको क्या दिया मनाने के लिए? मैंने कंठा दिया, इतनी जागीर देने को कहा फिर भी खुश नहीं हुआ। पर तुमने क्या दिया? बीरबल बोला–हुजूर! आप तो सिंहासन पर बिराजिए, आपको क्या करना? जिसको जिसकी आवश्यकता थी वह दे दिया। इसको जागीर की आवश्यकता नहीं है। आखिर तो इसका स्वभाव ऐसा ही है। आप समझ तो गए। बादशाह, गुलाम की बात पर आप हंस भी गए। परन्तु उससे आपको क्या प्रयोजन है? मैं तो यह देखता हूं कि यहां भी है कोई बादशाह–शहनशाह। देखिए! यह हमारी आत्मा बादशाह से भी बढ़कर है। परन्तु यह अपनी बादशाही को भूलकर, अपने स्वरूप को भूलकर, अपने गुलाम को मनाने की चेष्टा कर रही है कि खुश हो जा। ये बाहरी पदार्थ, जड़ पदार्थ, भौतिक पदार्थ तो गुलाम के तुल्य हैं और इनके पीछे, इनको खुश करने के लिए आत्मा अपने सिंहासन से नीचे उतर-

कर उन्हें सिर पर बिठा रही है, और वे रूसते चले जा रहे हैं। सारी जिन्दगी लगा देते हैं सम्पत्ति कमाने में पर क्या वह किसी के पास टिकी? सम्पत्ति आती है और जाती है। यह आपकी नहीं हैं, आत्मा की नहीं है। परन्तु फिर भी इसको वार-बार सिर पर चढ़ाना गलत है। आप किसका विशेष मूल्यांकन कर रहे हैं? चैतन्य का या जड़ का? यदि सही माने में देखा जाए और वर्तमान परिस्थिति का अव-लोकन किया जाए तो कोई भाई चाहे कितना ही बुद्धिशाली व्यक्ति हो, माना हुआ व्यक्ति हो परन्तु अन्तःकरण से उसका मन इन जड़ पदार्थों में उलझा हुआ है। जब यह शहनशाह बन जाएगा और सिंहासन पर बैठ जाएगा तब फिर इनकी गुलामी नहीं करेगा।

नियमित समय पर चिन्तन करिये

आप सब विचारें; मेरा स्वरूप क्या है? मैं किसके पीछे पागल बन रहा हूं? मेरा स्वरूप तो सिद्ध जैसा है और इसीको समझकर यह आत्मा चल पड़े तो कुछ रंग ही बदल जाए। सन्तों को फिर विशेष कहने की आवश्यकता ही नहीं रहे। तो मैं कह रहा था कि प्रातःकाल का समय अन्दर के चैतन्य को जगाने का है, अन्तरंग के समीक्षण करने का है। रात भर नींद लेकर मनुष्य उठता है। दिन भर काम में बिजी रहता है, मस्तिष्क थक जाता है, ऊँघ आती हे, सोने की इच्छा होती है। सामायिक भी करता है परन्तु जितना चाहिए उतना मन नहीं लगता है। जब रात्रि में विश्राम कर लेता है और नियमित समय पर दस बजे सो जाता है। विश्राम करने का भी तरीका है। आजकल मनुष्य जीवन की कोई कद्र नहीं समझ रहा है। व्यर्थ की बातों में रात के ग्यारह-बारह बज जाये तो भी कोई परवाह नहीं, सोएगा तो प्रातःकाल सात-आठ बजे उठेगा। यह अस्त-व्यस्त जीवन है। ज्ञानीजनों का कथन है कि मनुष्य जीवन की साधना करना है तो ठीक समय पर विश्राम करलो, उसका भी समय होना चाहिए। दस बजे रात को सोकर पाच बजे कम से कम उठ जाना चाहिए और फिर किसी दूसरी तरफ ध्यान नहीं देकर यह सोचें कि सारा बोझ दूर हो गया है। इस समय पवित्र से पवित्र संस्कार इस आत्मा में डालने हैं। पवित्र संस्कारोंवाली आत्मा को जाग्रत करना है।

शुद्ध अवलंबन आदरो

आतमा को जगाने के लिए यदि शुद्ध अवलंबन चाहिए तो कवि कहता है—

शुद्ध अवलंबन जे आदरे, तणी अवर जंजाल रे।

'शुद्ध अवलंबन'–शुद्ध का तात्पर्य है जो कभी भी विनष्ट नहीं हो–नाश को प्राप्त नहीं हो। तीन काल में भी जिसका खण्ड नहीं किया जा सके, टुकड़े नहीं किए जा सके। उसका मौलिक स्वरूप-उसकी शुद्धि अपने अक्षय निधि के साथ रहे। आवरण की दृष्टि से भले ही ढंक गया हो, परन्तु मूलस्वरूप वैसा ही है। जैसे शुद्ध चाँदी चमक रही है, परन्तु उसकी चमक में अविनाशीपन नहीं है, नाशपना है। वह चांदी नष्ट होने वाली है। एक दिन परमाणु के रूप में बिखर जाने वाली है। हीरे-पन्ने को देखते हैं तो वे बहुत चमकते हैं, वे भी बिखर जाते हैं। क्योंकि नाशवान हैं। इनमें कभी शुद्धता नहीं है, शुद्धता आती है तो वह आतमा में आती है। आतमा का जो स्वरूप है, वहां कोई और अवलंबन नहीं है। आपकी सुविधा के लिए अक्षय तृतीया के ऊपर राणावास में जो नौ बातें मक्खन के रूप में रखी गईं, प्रातः काल उन्हें ख्याल में लायें, तो शुद्ध स्वरूप भी ध्यान में आए यहां आने के बाद नवरंगपुर में ज्योति भाई कहने लगे कि ये अच्छी बातें हैं। हम तो गुजराती में अनुवाद करायेंगे और शायद कराया भी हो, प्रातःकाल में आत्मा पर पवित्र संस्कार पड़े और कुछ नहीं बने तो तो आप सीधा-सादा यह दोहा बोल सकते हैं कि– 'सिद्धा जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय'– प्रातःकाल उठकर अंतःकरणपूर्वक इसका उच्चारण करेंगे तो जीवन में काफी अन्तर पड़ेगा। ज्ञान शक्ति के साथ चिन्तन करेंगे और पर पदार्थों को त्यागते हुए चलेंगे तो उतना ही शुद्ध अवलम्बन और बढ़ेगा। यह त्याग, जड़ के बन्धनों को छुड़ाता है। तुम्हारी आतमा ने जब से जड़ के साथ गठ-बन्धन कर लिया है, तभी से शांति नहीं मिल पा रही है, अतएव शान्ति को पाने के लिए जड़ पदार्थों की आसक्ति से दूर हटते जाइये। जितनी-जितनी मात्रा में जड़ पदार्थों से आकर्षण दूर होगा, उतनी-उतनी मात्रा में निरासक्त भावना बढ़ेगी। विषमपना दूर होगा और समीक्षणता बनेगी। समीक्षण की परम साधना ही व्यक्ति को समभाव के उपवन में ले जाकर निजस्वरूप प्राप्त कराती हुई चरम शांति का अनुभव करा देती है।

अव्रत की क्रिया छूटे कैसे ?

- विधि : प्रश्न और समाधान की
- कालस्यवेषि अणगार की पैनी दृष्टि
- समकिती की समीक्षण धारा
- नवकारसी के व्रत मात्र से अव्रत क्रिया का निषेध
- अव्रत की क्रिया क्यों नहीं लगती ?
- गलत परम्परा छोड़, आगमानुकूल बनें
- मिट्टी का लड्डू छोड़ो और मिठाई का उठाओ

अपच्चक्खाण किरियाणं भंते कस्सकज्जइ ?
गोयमा ! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्सं ॥

—प्रज्ञापना सूत्र पद १२

भगवन् ! अव्रत की क्रिया किसको लगती है ? गौतम ! जिसने एक भी प्रत्याख्यान नहीं किया हो, उसे अव्रत-अप्रत्याख्यान की क्रिया लगती है।

साधना के पथ पर चलने वाला साधक सम्यक्त्व अवस्था में रमण करता हुआ, जिज्ञासा भाव से ज्ञान प्राप्त कर नवकारसी आदि तप करता है तो उसे अव्रत की क्रिया नहीं लगती। ऐसी आत्मा आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में बढ़ती हुई एक दिन चरमलक्ष्य को भी पा जाती है।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।
आगम धर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे,
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे॥

बन्धुओ! अभी आपके समक्ष जो भगवती-सूत्र का प्रकरण चल रहा था और विद्वद्वर्य श्री ज्ञान मुनिजी उसका विवेचन कर रहे थे। वह प्रसंग भी आत्मा के हित के लिए कितना महत्वपूर्ण है? उस महत्वपूर्ण प्रसंग में प्रत्याख्यान का उल्लेख किया गया है। प्रत्याख्यान करने वाला है कौन? प्रत्याख्यान क्या है और उसका प्रयोजन क्या है? यह प्रश्न गृहस्थ वर्ग का नहीं साधु का प्रश्न है और मुनिजन ही उसका उत्तर देने वाले हैं।

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में चलने वाले कालास्यवेषि अणगार ने भगवान महावीर के शासन में विचरने वाले स्थविरों से प्रश्न किये। कुछ इस ढंग से प्रश्न पूछ बैठे कि जिन प्रश्नों की प्रश्नावली सुनकर व्यक्ति उत्तेजित हो जाए। किन्तु जहां उत्तेजना आ गई, वहां समता का धागा टूट गया, समता की जमीन खिसक गई। उत्तेजना दिलाने वाले कितने ही मिलें, तब भी जिसे उत्तेजना नहीं आती है, जो शान्त भाव में ही रमण करता है, वह साधक लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता। ऐसे प्रसंग पर उत्तेजना दिलाने वाले व्यक्ति उनकी गति में अवरोध पैदा करना चाहते हैं अथवा उस रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति का नाप लेना चाहते हैं। तीसरा दृष्टिकोण विजिगुप्सा-विचिकित्सा हो सकता है अर्थात् हराना चाहते हैं। और चौथा दृष्टिकोण है जिज्ञासा से पूछने का। उत्तेजना के प्रश्न के पीछे चार बातों की स्थिति सामने है। पार्श्वनाथ भगवान के उन शिष्यों ने जो प्रश्नों का सिलसिला अपनाया उनकी भावना महावीर के शासन में चलने वाले श्रमण वर्ग की गति में अवरोध करने का नहीं था और न उनकी भावना विचिकित्सा की थी कि मैं प्रश्नों में उन्हें हरा दूं और मैं जीतूं। जहां जो व्यक्ति हार-जीत की दृष्टि से प्रश्न करता है या जो व्यक्ति दूसरे को अवरुद्ध करने की दृष्टि से प्रश्न करता है, उस व्यक्ति की भावना पवित्र नहीं कही जा सकती। उसकी वह भावना स्वयं के लिए भी पवित्र नहीं है और अन्य के लिए भी पवित्र नहीं है। जो दूसरों के लिए अवरोध पैदा करने की भावना रखता है तो वह उसके लिए भी विघ्नकारक बनती है और जो दूसरे को जीतने की इच्छा रखता है, वह स्वयं

पराजित होता है। क्योंकि जीतने के लिए वह दाव-पेंच खेलता है तो परिणामस्वरूप जिसको जीतना चाहता है, उसके मन में भी कलुषितता आए बिना नहीं रहती। अतः प्रश्न पूछने के जो तीन कारण हैं, वे जीवन में हितावह नहीं हैं। अतः भव्य जीव, जिनको आध्यात्मिक जीवन की शान्ति प्राप्त करनी है, वे ऐसे विचारों से प्रश्न को नहीं रखते।

कालस्यवेषि अणगार की पैनी दृष्टि

पार्श्वनाथ भगवान के शासन के कालस्यवेषि अणगार ने जिस ढंग से प्रश्न किए, यदि सामने वाले उत्तर प्रदाता गरिमामय निर्ग्रन्थ संस्कृति से युक्त नहीं हो तो उन प्रश्नों से सहसा भड़क जाते और कहते कि तुमको प्रश्न करने की तमीज भी नहीं है। तू साधु बना है ? तुझे साधु भाषा का ज्ञान भी नहीं है। ऐसी उत्तेजना आ सकती थी और पार्श्वनाथ भगवान् के उन सन्तों ने जो प्रश्न किए वे एक दृष्टि से देखा जाए तो उनके प्रश्न उन दोनों परिधियों को छोड़कर, जैसा कि मैं जिक्र कर गया, मलीन-भावना से युक्त नहीं थे। हम जिस शासन में सम्मिलित होना चाहते हैं और जिन स्थविरों के पास आए हैं, वे कितने गहरे हैं ? वे समकिती लक्षणों से युक्त भी हैं या नहीं ? ये परीक्षा के विचार उनमें समाविष्ट हो सकते थे। इसी प्रसंग से जो प्रश्न किये गये उनको सुनकर भगवान् महावीर के शासन में रहने वाले स्थविर उत्तेजित नहीं हुए। परन्तु सहज सरल भाव से उनके प्रश्नों के उत्तर देने लगे। जैसा कि उनके प्रश्न करने का तरीका था—'थेरासामाइयं न याणंति, थेरा सामाइयस्सअट्ठं न याणंति। थेरा पच्चक्खाणं न याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं न याणंति। थेरा संजमं न याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं न याणंति। थेरा संवरं न याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति। थेरा विवेगं न याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं न याणंति थेरा विउस्सग्गं न याणंति। थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं न याणंति।

हे स्थविरो ! तुम सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक, व्युत्सर्ग नहीं जानते हो और नहीं उसका अर्थ जानते हो। इतना स्पष्ट कहने पर भी स्थविर भगवंतों को किंचित् मात्र क्रोध नहीं आया, क्योंकि उनकी दृष्टि में समीक्षणता थी।

स्थविर भगवंतों ने बस इतना ही कहा कि स्थविरो ! ऐसी बात नहीं है। हम सामायिक आदि को एवं उसके अर्थ को जानते हैं। तदनन्तर उन्होंने उनका समाधान भी दिया। जो कि शास्त्र के पृष्ठों पर उपलब्ध है। समाधान पाकर

पार्श्वनाथ भगवान के वे सन्त भगवान महावीर के शासन को स्वीकार करके पांच महाव्रत धारी बने। इस विषयक सारा विवेचन मुझे अभी नहीं लेना है। मुझ को तो केवल इस गुरुपद की स्थिति की बात कहना है।

जो साधक परम सुख और परम शांति चाहता है, उसके लिए मार्गदर्शक व्यक्ति की आवश्यकता है और मार्गदर्शक कैसा हो? यह समझना आवश्यक है।

समकिती की समीक्षण धारा

जो साधक आध्यात्मिक जीवन की साधना में चलना चाहता है तो उसको आहार कैसा लेना चाहिए? सहायक कैसा ढूंढना चाहिए? इन विषयो पर गत दिनों में मैं आपके समक्ष कुछ विवेचन रख चुका हूं। जो सच्चे गुरु के सान्निध्य को पाकर साधना में बैठता है वह समकित में रमण करता है। इस प्रसंग से समकिती होने के बाद समकिती के अन्तर्गत उसका श्रद्धान होता है। संसार में कौन से पदार्थ त्यागने योग्य हैं? और कौनसे ग्रहण करने योग्य हैं? धर्म और अनुष्ठान मेरे लिए ग्रहण करने योग्य हैं। इसका निश्चय करके जो चौथे गुणस्थान में समकिती कहलाता है, वह अपने मन में यह दृढ़ आस्था रखने लगता है कि मैं परम सुख और परम शांति को तभी वर सकूंगा जबकि वर्तमान जीवन में मेरे साथ लगे जो कर्मबन्धन हैं, वे छूटें। जिन पदार्थों में मैं आसक्ति रख रहा हूं, जिनके पीछे रात, दिन अपनी शक्ति व्यय कर रहा हूँ, वे पदार्थ भी मुझे त्राण-शरण देने वाले नहीं हैं। वीतराग देव के वचन हैं कि 'वित्तेणताणं न लभे पमत्ते' वित्त से, धन से न व्यक्ति मृत्यु से त्राण पा सकता है और न भगवान की शरण ले सकता है। इसलिए विशिष्ट सम्यक्त्वी दृढ़ आस्थावान बन जाता है कि मुझे एक न एक दिन परिपूर्ण त्याग वृत्ति को अपनानी है। यह परिपूर्ण त्यागवृत्ति, मैं इस जीवन में अपना पाऊं या नहीं? परन्तु मेरी दृढ़ आस्था-श्रद्धा यही है कि त्याग के बिना परम सुख-शान्ति नहीं मिल सकती है।

जो आत्मा के विपरीत स्वभाव वाले पदार्थ हैं, आत्मा को विकारों में घुमाने वाले तत्व हैं, आत्मशुद्धि में जो बाधा देने वाले तत्व हैं, उनका परिपूर्ण त्याग किए बिना मैं आध्यात्मिक जीवन के मार्ग पर, आत्मा के पूर्ण स्वरूप को वरता हुआ वहां तक नहीं पहुंच सकता हूं। परन्तु कई परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि मैं

तत्क्षण परिपूर्ण त्याग नहीं कर सकता हूँ। तो उसके अभाव में वह यह सोचता है कि परिपूर्ण त्याग, जिस रोज होगा, वह दिन मेरा धन्य होगा। परन्तु कम से कम परिपूर्ण त्यागी होने के लिए एक नवकारसी का नियम तो ले लें।

नवकारसी के व्रतमात्र से अव्रत क्रिया का निषेध

नवकारसी का एक छोटा-सा त्याग मैं समझता हूँ, कई भाई करते होंगे। कई बहिनों के नवकारसी का नियम होगा। परन्तु वह किस रूप में है ? पच्चक्खाण की दृष्टि से मूल पाठ में 'उग्गएसूरे' शब्द आया है। तो मेरे अधिकांश भाई-बहिन सोच लेते हैं कि सूर्योदय से अड़तालीस मिनट चढ़े वहां तक मेरे त्याग है। परन्तु इस विषय में शास्त्र का अभिप्राय गहरा है। रात्रि के बारह बजे बाद कोई पदार्थ मुंह में नहीं डालें और उसकी विधि आप विद्वद्वर्य ज्ञान मुनिजी से सुन गए। उसके साथ ही साथ यह शब्द भी आपके समक्ष आया कि नवकारसी का पच्चक्खाण करने वाले के अव्रत की क्रिया रुक जाती है। मेरे भाई जरा चिन्तन करेंगे, सोचेंगे कि श्रावक के कुछ तो त्याग हैं उसकी तो अव्रत की क्रिया रुक जाएगी परन्तु जो खुला है उसको अव्रत की क्रिया क्यों नहीं आएगी ?

नवकारसी का नियम लिया तो उसके त्याग की क्रिया रुकी और जिसका त्याग नहीं है उसको तो क्रिया जरूर आएगी। परन्तु इस सोचने में परिवर्तन कीजिए। शास्त्रकारों का कथन है कि जो श्रद्धा रख रहा है वह यह सोच रहा है कि मैं परिपूर्ण त्याग करूं। मेरी श्रद्धा तो वही है परन्तु अभी कई कमजोरियां हैं। अतः त्याग नहीं कर पा रहा हूँ। परन्तु मंगलाचरण की दृष्टि से नवकारसी का पच्चक्खाण करता हूं। जैसे कोई व्यक्ति बंगला बनवाना चाहता है। वह सोचता है कि अभी मेरे पास नाणे-पैसे की कमी है। इसलिए अधिक नहीं तो कम से कम मकान बनाने के मंगलाचरण के रूप में शिलान्यास तो कर लूं। वैसे ही जो आध्यात्मिक जीवन का बड़ा महल बनाना चाहता है, वह सोचता है कि शिलान्यास के रूप में नवकारसी तो कर लूं। इसी भावना से यदि वह करता है तो शास्त्रकार कहते हैं कि उसके अव्रत की क्रिया रुक जाती है।

अव्रत की क्रिया क्यों नहीं लगती ?

त्याग तो नवकारसी का किया है, बाकी सब खुला है। तब आगे का प्रश्न आता है कि उसके अव्रत की क्रिया क्यों नहीं लगती जबकि वह आरंभजनित कार्य करता है ? वे किस क्रिया में जाते हैं ? तो बतलाया गया कि वह परिग्रह की क्रिया में जाते हैं। अव्रत की क्रिया है, वैसे ही परिग्रह की भी क्रिया है। उसने त्यागना तो समझ लिया परन्तु थोड़ा त्यागा और बाकी में ममत्व रह गया तो ममत्व सम्बन्धी क्रिया श्रावक के आती है पर अव्रत की क्रिया नहीं आती है। प्रभु ने अव्रत की क्रिया का निषेध किया है। परिग्रह की क्रिया हो सकती है। इसके लिए प्रैक्टिकल रूपक रख देता हूं। अब समझ लीजिए कि किसी ने एक महीने की तपस्या की और इकतीस दिन तपस्या करना है। इकतीस दिन तो तपस्या करता है और फिर पारणा करने की सोचता है। बत्तीसवें दिन पारणा करने की भावना करने वाला वह व्यक्ति मन में क्या कल्पना करता है कि अब मैं पारणा करूं। पहिले जैसा भोजन करता था वैसा पेट भर लूं। पर जब दूसरे दिन वह पारणे के लिए बैठा तो अनुभव करने लगा कि मेरी आंतें सिकुड़ गई हैं, अतः एक साथ दूध नहीं पीना है। समझ लीजिए कि एक छटांक दूध पिया और दिन भर में आधा पाव दूध पिया। पेट भरकर भोजन नहीं किया। क्योंकि उसको पेट भरकर भोजन लेने में दस-बीस दिन तो लग ही जायेंगे। उतने कुछ दिन खाली पेट तो रहेगा। इस हालत में क्या ये दिन भी उसकी तपस्या में कहलायेंगे। जैसे पारणा हो गया छटांक दूध से। तब क्या वह दिन उसकी तपश्चर्या में कहलायेगा ? उत्तर होगा नहीं। वह पूरा नहीं ले पा रहा है क्योंकि अभी जठराग्नि प्रबल नहीं है। लेकिन थोड़ासा भी ले लेने से अब उसके तपश्चर्या नहीं रही। इसी तरह अनादिकाल से आत्मा के साथ में अव्रत की क्रिया लगती है। उस अव्रत का जब जीव पारणा करने को सोचता है कि मैं पूरा त्याग लूं, पेट भरकर। परन्तु उसकी कमजोरी है, शक्ति नहीं है। अतः वह एक छटांक दूध के समान नवकारसी का त्याग करता है तो क्या अब उसके अव्रत कहलाएगा ? अव्रत नहीं कहलाएगा। उसके फिर अव्रत-क्रिया नहीं लगती, किन्तु जो आरम्भादि उसके खुले हैं वे अव्रत में नहीं हैं, वे परिग्रहादि की क्रिया में हैं।

एक बात और बता दूं। देखिए ! एक इक्कीस वर्षीय तरुण ने शादी की और हथलेवा जोड़ा, फेरे ले लिये और जैसे ही हथलेवा छूटा तो उस व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया अथवा वह निष्ठा के साथ रहा। कोई सम्पर्क नहीं किया। बोलिए ! अब उस व्यक्ति को कंवारा कहेंगे या परणा हुआ ? शादी

किया हुआ है परन्तु शादी के बाद बाल-बच्चे तो नहीं हुए। फिर भी कंवारा तो नहीं कहेंगे ? वैसे ही आप समझ लीजिए कि जहां अव्रत अनादिकाल से चल रहा है और कभी आत्मा को परिपूर्ण शुद्धि में रखने के लिए, परम शांति को पाने के लिए, परिपूर्ण त्याग की भावना से यदि नवकारसी का त्याग भी किया तो मानो हथलेवा, त्याग के साथ जोड़ लिया। उसने अपना प्रत्याख्यान के साथ हथलेवा जोड़ लिया। अब वह खुला भी रहा तो जिन्दगीभर अव्रत की क्रिया आएगी क्या ? नहीं। कभी नहीं आ सकती। प्रज्ञापना सूत्र के बाइसवें पद में बतलाया है—

"अपच्चक्खाण किरियाणं भंते–कस्सकज्जइ ?

भगवन्: ! अप्रत्याख्यानी क्रिया किसको लगती है ?

महाप्रभु ने फरमाया—गोयमा ! अण्णयरस्स वि अप्पच्चक्खाणिस्स।

गौतम ! जिसके एक भी प्रत्याख्यान न हो, उसके अव्रत की क्रिया लगती है। अत: मूल पाठ से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसके एक नवकारसी का तप है, उसके अप्रत्याख्यान-अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

गलत परम्परा छोड़ें, आगमानुकूल बनें

श्रावक को व्रताव्रती कहते हैं, उसका अर्थ यही है कि देशव्रती। नवकारसी का त्याग करने वाले के अव्रत की क्रिया रुक जाती है और सिर्फ परिग्रह की क्रिया लगती है। नवकारसी कितनी महत्वपूर्ण है ? परन्तु विधि के साथ की जाती है, तभी पूरा फल मिलता है। पच्चक्खाण क्या है ? पच्चक्खाण भी आत्मा है और पचखती भी आत्मा ही है। इसका रहस्य यही है कि पच्चक्खाण करने वाला कौन है ? आत्मा। स्वभाव किसका है ? आत्मा का। तो आत्मा अपने स्वभाव से कदाचिद् अभिन्न है। करने वाला और पच्चक्खाण दोनों आत्मा है क्योंकि प्रत्याख्यान को लेने वाला, करने वाला, समझने वाला आत्मा ही है। इसलिए आत्मा को प्रत्याख्यान और उसका अर्थ दोनों बतलाया है, अत: जो शांति के इच्छुक हैं, उन्हें गलत परम्परा को छोड़कर सही तथ्य स्वीकार करना चाहिए।

मिट्टी का लड्डू छोड़ो और मिठाई का उठाओ

हाथ में यदि मिट्टी का ढेला पकड़ रखा है और आपको भूख लग रही है और कोई लड्डू देता है तो उस समय आप मिट्टी के ढेले को फेंक देंगे और लड्डू ले लेंगे क्योंकि मिट्टी के ढेले को छोड़ोगे तभी लड्डू हाथ में आएगा और भूख मिट सकेगी। मिट्टी का ढेला क्या है? रुपये, पैसे, सोना, चांदी, मकान ये सब मिट्टी के ढेले ही तो हैं। जितना-जितना इनको छोड़ते जायेंगे, दान देते जायेंगे उतना लड्डू हाथ में आता जायेगा। इसलिए 'आगमधर गुरु समकिती' शास्त्रीय शब्दों का भी इसमें स्पर्श करा दिया कि विद्वान्, तेजस्वी हो जाना, एक बात है परन्तु समकिती होना और बात है। जो समकिती नहीं है, वह मास-मास की भी तपस्या करे तो भी वह मोक्षरूप फल देनेवाली नहीं है। साधु बनता है तो उसमें भी समकित की आवश्यकता है। श्रावक यदि सम्यक्-भाव से चलता है और दुश्मन के प्रति भी दुश्मनी नहीं लाता और उसके प्रति भी मित्रता के भाव रखता है, द्वेष को छोड़ता है और समभाव के साथ अपना भाई समझकर उसकी सहायता करता है तो प्रारम्भ में भले ही छोटी बुद्धि वाले समझ लें कि दुश्मन को साथ दे रहा है, परन्तु आखिर में भलाई का फल भला ही होता है।

————

साध्य की प्राप्ति : संवर की साधना से

- शरीर से ही कर्मों का वंध और विनाश
- सुसाधना में सहायक सुगुरु
- समीक्षण करो क्रिया का
- आश्रव-प्रवाह को रोकें
- क्रिया गृहस्थ और साधु की
- संवर क्रिया का सार
- संवर की विशिष्ट साधना साधु जीवन में
- दृष्टांत गौरीशंकर—उमाशंकर का
- संवर की साधना और गौतम स्वामी

शरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।
उत्तराध्ययन सूत्र—२३–७३

अर्थ : शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है । जीव रूपी नाविक के द्वारा शरीर रूपी नौका को लेकर महर्षि, इस जन्म-मरण रूप संसार-समुद्र से तिर जाते हैं ।

शरीर कर्म का विमोचन करने में सहायक बनता है । शरीर के बिना आत्मा, कर्मों से मुक्त नहीं हो सकती । कर्मो से मुक्ति पाने के बाद शरीर की आवश्यकता नहीं रहती ।

कर्मों से मुक्ति एवं आत्मशांति की प्राप्ति के लिए जिनवाणी पर निष्ठा एवं संवर साधना आवश्यक है, जिससे आश्रवों का निरोध कर समीक्षण पद्धति के साथ जीवन को सजाया-संवारा जा सके ।

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे।।
आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे।
सम्प्रदायी अवंचक सदा, शुचि अनुभव धार रे।।

बन्धुओं ! भव्यात्माओं के लिए मनुष्य पर्याय, मनुष्य जीवन की प्राप्ति, एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। एक दृष्टि से देखा जाए तो अनेक जन्मों की संसिद्धि है। इस उपलब्धि और उसमें संसिद्धि कहने का तात्पर्य यही है कि यदि यह आत्मा विवेक पकड़ ले और एक ही जीवन को सार्थक बना ले तो इस जीवन के लिए बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो जाएगा। मनुष्यतन भी जल्दी नहीं मिलता। आकृतितन भले ही मिल जाए, परन्तु आर्य कुल, संत-समागम, एवं विवेक शक्ति जगाने का सम्यक् अवसर, यह बहुत बड़ी कठिनता से ही मिलता है। शास्त्रकार का उल्लेख है कि जहां ऐसे मनुष्यतन की उपलब्धि हो और विकास के सारे अवसर प्राप्त हों, वहां वह विकास पूरा साध सके, इस दृष्टि से इस जीवन के विकास के लिए साथियों की आवश्यकता रहती है। वे साथी भी कैसे हों? उसके लिए प्रभु ने उपदेश दिया कि—

अहारमिच्छे मितमेसणिज्जं, सहायमिच्छे णिउणत्थबुद्धिं।

सबसे पहिला साथी है शरीर। इस शरीर के बिना आध्यात्मिक साधना नहीं बनती। कितनी भी सामर्थ्यशाली आत्मा क्यों न हो परन्तु साधना से संसिद्धि तक पहुँचने के लिए शरीर आवश्यक है।

शरीर से ही कर्मों का बंध और विनाश

जब तक कर्मों से यह आत्मा जकड़ी हुई है, तब तक इसकी सामर्थ्य शक्ति दबी हुई है, शक्ति को विकसित करने के लिए समान-स्तर की आवश्यकता है। समान स्तर की स्थिति नहीं है तो विकास में अवरोधता आएगी और जिस शरीर के माध्यम से यानि किसी भी योनि में रहते हुए कर्म उपार्जन किए तो, कर्मों का तोड़ना भी शरीर के माध्यम से होगा। बिना शरीर के माध्यम के किसी

भी आत्मा ने परिपूर्ण कर्मों को नहीं तोड़ा है। इसीलिए शास्त्रकारों ने संसार-समुद्र से तिरने के लिए शरीर को नौका के तुल्य माना है। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णन आया है—

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥
उत्त. २३-७३

चाहे मनुष्य का यह शरीर अन्य दृष्टियों में क्षणभंगुर हो, परन्तु कर्म तोड़ने के लिए महत्वपूर्ण है। इस शरीर की सहायता की आवश्यकता है। वह शरीर भी सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र में तभी ठीक तरह से सहायक होता है, जब कि वह सात्विक आहार ले, भोजन ले। भोजन शरीर का सहायक है और शरीर ज्ञान, दर्शन, चारित्र में सहायक है। इसलिए ज्ञानी-जनों की पैनी दृष्टि भोजन तक पहुँच गई कि जो अपनी साधना करना चाहे और परम सुख, परमशांति को पाना चाहे तो उसे मित और ऐषणिय आहार लेना चाहिए। ऐषणिय और मित की बड़ी व्याख्या है। परन्तु फिलहाल उन सबको गौण कर रहा हूँ। आहार, शरीर की सहायता के रूप में लिया जाता है। किन्तु शरीर और आहार मिल जाने मात्र से समस्त आत्माओं का कल्याण हो जाए, यह शक्य नहीं।

सुसाधना में सहायक सुगुरु

आध्यात्मिक विकास के योग्य शरीर भी मिल जाए परन्तु शरीर से भिन्न अन्य व्यक्ति का सहयोग महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह सहायक भी कैसा हो? अन्य व्यक्तियों की सहायता परिवारजनों के रूप में तो रहती है, परन्तु बुद्धि के बल की आवश्यकता है। बुद्धि भी साधारण व्यक्ति की नहीं बल्कि निपुण अर्थ को ग्रहण करने वाले की बुद्धि की आवश्यकता है। जिसमें ऐसी बुद्धि हो और ऐसा व्यक्ति सहायक के रूप में मिल जाता हो तो उस व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण कार्य बन जाता है। इसलिए आनन्दघनजी के परम सुख और परमशांति की आखिरी सीढ़ी मंजिल पर पहुँचने के लिए जो दूसरा सोपान बताया—'आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे'–वे निपुण अर्थ बुद्धिवाले सहायक कैसे हों? तो विशेषण दिया गया कि आगमधर गुरु हो। गुरु शब्द की व्याख्या भी मैं आपके सामने रख गया हूँ। भाव

अन्धकार को दूर करने वाले गुरु हैं जो आ+गम का समग्र ओर से ज्ञान रखने वाले हों, एकांगी ज्ञानवाले नहीं हों, जिनका ज्ञान विशाल और व्यापक हो और विशाल व्यापकता के साथ-साथ दृष्टि में समन्वयात्मक स्थिति हो। वह स्थिति उसके जीवन को अधिक रोशन कर देती है और बुद्धि को निपुण अर्थ, बुद्धि रूप में परिणत कर देती है। ज्ञान का विषय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्बन्धित है। शास्त्रकार का कथन है कि सिर्फ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने से चारों ओर का ज्ञान करने से निपुण अर्थ की बुद्धि नहीं आती। उसको प्राप्त करने के लिए गुरु का समकिती होना भी जरूरी है। तीर्थंकर देवों पर आस्था, प्रगाढ़ श्रद्धा हो। यही तो आध्यात्मिक जीवन की मूल भूमिका है, परन्तु निपुण अर्थ बुद्धि का प्रकाश प्रत्येक क्रिया में दिखे।

समीक्षण करो—क्रिया का

शरीर है, शरीर की क्रिया है। वे शरीर की क्रियायें संवर युक्त हैं या आश्रव युक्त हैं ? संवर और आश्रव का तात्पर्य भी आपके ख्याल में होगा। आश्रव कर्म बांधने वाली प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से कर्म आता है वह आश्रव है। क्रिया उसका कारण है। जैसा कि व्यक्ति हाथ हिला रहा है व अब एक तो संवर युक्त हाथ हिल रहा है और एक आश्रव युक्त हाथ हिल रहा है। हाथ हिलाने की क्रिया एक सरीखी है। परन्तु एक सरीखी हाथ उठाने की क्रिया होने पर भी उसमें रात और दिन का अन्तर हो जाएगा। एक व्यक्ति ने हाथ उठाया ऐसे—यह क्रिया हुई, ऊपर उठा हाथ, परन्तु उसके मन में यह भावना है कि जो व्यक्ति यह दुख पा रहा है, उसको थोड़ी तसल्ली मिले। दुख पाते हुए को तसल्ली देने के लिए उसका हाथ उठता है कि जिसके अन्तःकरण में अपनी आत्मा के तुल्य पर का भान है। अरे! व्यक्ति कष्ट पा रहा है। यदि मैं इसके स्थान पर होता तो मैं भी आश्वासन चाहता, आज यह कष्ट में है। इस भावना से उसका हाथ उठा। उठाने की क्रिया हुई। अब दूसरे व्यक्ति ने भी हाथ उठाया और उसने इसलिए उठाया कि इस व्यक्ति के एक चांटा लगा दूं जोर से। इसको जर्जरित कर दूं। इस दृष्टि से उसने भी हाथ उठाया। तो हाथ दोनों के उठे। हाथ की क्रिया दोनों में हुई। परन्तु पहिले हाथ की क्रिया संवर युक्त है और दूसरे हाथ की क्रिया आश्रवयुक्त है। दूसरे की दूसरे के प्रति हमदर्दी नहीं दिखाती है। वह उसको पछाड़ने की चेष्टा करता है। इसलिए जो पछाड़ने की भावना रखता है, वह आश्रव की स्थिति में वहता है।

दो व्यक्ति एक सरीखे छुरे पेट में चला रहे हैं। एक छुरा डॉक्टर मरीज के पेट में चला रहा है। दूसरा कसाई भी छुरा पेट में चला रहा है। डॉक्टर मनुष्य के पेट में छुरा चला रहा है और कसाई पशु के पेट में छुरा चला रहा है। छुरा चलाने की दोनों की क्रियायें एक सरीखी हैं। परन्तु दोनों के चलाने में रात-दिन का अन्तर है। कसाई उस पशु को खत्म करने के लिए छुरा चला रहा है और डॉक्टर उस मनुष्य की रक्षा के लिए चला रहा है। छुरा चलाने की क्रिया एक सरीखी है, परन्तु रात-दिन का अन्तर है। मैंने यह साधारण क्रिया की बात कही। केवल हाथ की क्रिया नहीं होती, परन्तु वचन की भी क्रिया होती है। और एक वचन तो ऐसा हो कि जो दूसरे के कलेजे को पार देने वाला, छः काय के जीवों की रक्षा में प्रवृत्त हो और एक वचन ऐसा हो कि अपने स्वार्थ के लिए छः काय के जीवों के लिए कष्टदायक हो। इस वचन की क्रिया से भी व्यक्ति जब वास्तविक ज्ञान की अवस्था प्राप्त नहीं करता है, तब तक न जाने कितने जीवों की हिंसा करने पर उतारू हो जाता है। क्योंकि उसे वर्तमान जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया का भी पता नहीं। कितनी क्रियायें खुली हैं, कितना आश्रव पल्ले पड़ रहा है?

आश्रव-प्रवाह को रोकें

आश्रव के द्वार बन्द हो जाना यह बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। आश्रव द्वार बन्द होने पर जो उसकी आध्यात्मिक निपुणता बढ़ती है वह महत्वपूर्ण होती है और जहां आश्रव के द्वार बन्द नहीं किए और चाहे कैसी भी सुन्दर क्रिया करें, उससे-उसके पुण्य जरूर बंध जाएगा, परन्तु निपुण अर्थ की बुद्धि नहीं आएगी। निपुण अर्थ की बुद्धि तो तभी आएगी जब कि सभी आश्रव के द्वार बन्द हो जायेंगे। यानि जीवन पर्यन्त छह काय के जीवों की हिंसा करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं और अनुमोदन भी नहीं करूंगा मन, वचन और काया से। इतना दृढ़ संकल्प उसके जीवन से बनता है, वह उसकी दृढ़ बुद्धि का कारण बनता है और जैसे ही वह दृढ़ बुद्धिवाला होता है वैसे ही उसमें निपुणता आ जाती है—निगूढ़ता आ जाती है। जैसे ही यह अन्दर का अनुसन्धान चलता है, वैसे ही मनुष्य के जीवन में चार चांद लगने की स्थिति आ जाती है। क्रिया होना स्वाभाविक है, किन्तु उस पर संवर का पुट रहना आवश्यक है।

क्रिया : गृहस्थ और साधु की

सन्त-सती भी क्रिया करते हैं और श्रावक-श्राविका भी क्रिया करते हैं। संत-सती वर्ग की क्रिया, दृष्टि से देखलो। वे पैरों से चलते हैं, पैरों से क्रिया करते हैं, हाथों से भिक्षा लाते हैं. बोलते भी मुंह से हैं और गृहस्थ भी बोलता है। विचार उनके और उनके दोनों में चल रहा है। परन्तु देखेंगे तो दोनों में रात-दिन का अन्तर पायेंगे। कहां तो सर्वस्व के त्यागी संत! और कहां छोटे से घेरे में छः काय के जीवों का नाश करने वाले, जिनके आश्रव के द्वार सारे खुले हुए हैं, ऐसे श्रावक! आश्रव के सारे द्वार खुले रखकर कुछ अच्छी क्रिया करते भी हैं तो करने की स्थिति ऐसी बनती है कि हस्ति-स्नान क्रिया के समान। जैसे हाथी को महावत सरोवर पर ले जाकर अच्छी तरह स्नान करा देता है, परन्तु बाहर निकलकर हाथी सूण्ड में धूल भर कर सारे शरीर पर उछाल लेता है, तो उसकी क्रिया व्यर्थ चली जाती है, वैसे ही आश्रव-द्वार खुले रखने पर क्रिया लगती है।

संवर क्रिया का सार

आश्रव और संवर इन दोनों चीजों के बीच में बहुत अन्तर है। इस अन्तर को परिलक्षित करके ही तीर्थंकर परिवार छोड़कर, बड़े-बड़े वैभव को छोड़कर, परिपूर्ण संवर क्रिया में पहुँचे। संवरयुक्त मन, वचन, काया की तमाम क्रियाएँ समस्त जीवों को अभयदान देने वाली बनी। इस प्रकार चलने से अपनी निपुण अर्थ की बुद्धि से उन्होंने भव्य-जीवों को उपदेश दिया। अन्य आत्मायें अपनी स्थिति से चली, परिपूर्ण संवर को ग्रहण कर परिपूर्ण आश्रव को त्यागा तो उनको मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ और पराकाष्ठा में जाते हुए केवल ज्ञान हुआ इसलिए यह संवर क्रिया का सार है। क्रिया, संवर के सार के साथ चले। भगवती सूत्र में कालस्यवेषि अणगार के प्रश्नोत्तर से संवर का अर्थ स्पष्ट किया गया है। कालस्यवेषि अणगार ने जब यह कहा—

थेरा संवरं न याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठ न याणंति

स्थविरो! तुम सवर नहीं जानते हो और संवर का अर्थ भी नहीं जानते हो। तब स्थविरों ने कहा—

"आयाणे अज्जोसंवरे, आयाणे अज्जो संवरस्स अट्ठे"

आत्मा ही संवर है। आत्मा ही संवर का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि संवर की साधना आत्मा के विशुद्ध भावों से समीक्षण की परिधि में ही संघटित होती है। परन्तु संवर का सार यह है कि आत्मिक दृष्टि बने और आत्मिक स्वरूप में रमण करने लग जायें। इस प्रकार की स्थिति जहाँ बनती है, वहीं संवर का सार आता है और वैसा संवर का सार आ जाने पर उसकी वुद्धि में कितनी निपुणता आती है, उसका कथन नहीं, अनुभव ही किया जा सकता है। यह मनुष्य जीवन में ही पाई जाती है।

संवर की विशिष्ट साधना : साधु जीवन में

संसार जीवन में कितनी ही सावधानी रखो, परन्तु कुछ न कुछ धब्बा लगे बिना नहीं रहता है। जैसे काजल की कोठरी में व्यक्ति कितना ही संभलकर चले, परन्तु कहीं न कहीं कालिख लगे बिना नहीं रहती। व्यक्ति इस जीवन को सार्थक बना लेता है तो अनेक जिन्दगियां सुधर जाती हैं। यह मनुष्य जन्म मिल गया, परन्तु मनुष्य जीवन की पर्याय को सार्थक नहीं किया तो फिर पल्ले कुछ भी पड़ने वाला नहीं है। यदि मनुष्य पहली जिन्दगी को सम्भाल सके तो वह आत्मोन्नति कर सकता है। मध्यम जिन्दगी भी संभल जाती है, तब कुछ बन सकता है। यदि पिछली जिन्दगी में भी सम्भल जाता है तो वह अमरता के रास्ते पर चल पड़ता है। महाप्रभु ने स्पष्ट निर्देश दिया है—

पच्छा वि तेपयाया, खिप्पंगच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पि वा तवोसंजमोअ, खंती अ बंभचेरं च॥

जीवन की पिछली अवस्था में दीक्षित होकर जिन साधकों का मन तप-संयम-शान्ति और ब्रह्मचर्य में लगा रहता है, वे अमर स्थान को प्राप्त हो जाते हैं।

साधक को अमरता के रास्ते पर चलने के लिए, योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। शान्ति के पद पर आरोहण करने के लिए गुरु को जो विशेषण दिये हैं, वे विशेषण जिसमें पाए जांय, उससे सहायता लेने वाला वहुत ही महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है और यदि ऐसे गुरु सहायक के रूप में नहीं मिलते हैं, और भले ही अक्षरीय ज्ञान और कॉलेज की डिग्रियां प्राप्त कर लें, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उसका कोई गुरु सहायक नहीं है तो भले ही वह कुछ समय दुनियाँ में यश पा ले, वैभव

कमाले परन्तु अन्ततोगत्वा उसकी स्थिति नाजुक ही बनती है। मिश्री से बना हीरा आखिर कब तक टिक सकता है ?

दृष्टान्त गौरीशंकर–उमाशंकर का

प्रसंगोपात की बात है कि गौरीशंकर छोटी अवस्था में काशी पहुँचा। वहां पर उसने पूरा अध्ययन किया और काशी विश्वविद्यालय से जितनी डिग्रियां प्राप्त कर सकता था, उतनी करली। कोई कसर बाकी नहीं रखी। डिग्रियों को प्राप्त कर लेने के बाद स्वाभाविक रूप से अभिमान आ ही जाता है। जिनके जीवन में संवर का सार नहीं होता, उनकी वैसी स्थिति बन जाती है। गौरीशंकर भी विश्वविद्यालय में पढ़ता था, वहां संवर के सार का पता ही नहीं था। उसकी भावना होती है कि गांव में जाऊं और रास्ते के गांव में जहां-जहां पण्डित मिलें, उनसे मैं शास्त्रार्थ करूँ और उनसे कहूँ कि मैं जीत जाऊंगा तो तुमको सोने का तुकमा-मेडिल देना पड़ेगा। हार जाऊंगा तो मैं दूंगा। यह दृढ़ निश्चय करके अभिमान में फूला न समाता हुआ चला। इस प्रकार अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाते हुए बावन पण्डितों को शास्त्रार्थ करके हरा दिया और सोने के मेडिल उनसे ले लिये। अब एक गांव ही अवशेष रह गया। तब उसने अपने गांव में रहने वाले बड़े भाई मंशारामजी को सूचना करवा दी कि तुम्हारा भाई गौरीशंकर बावन पण्डितों को हराता हुआ धन-माल लेकर आ रहा है। यह समाचार मिलते ही बड़े भाई की खुशी का पार नहीं रहा। उसने उसके आगमन की सूचना पाकर स्वागत की तैयारियां कीं। अब जो एक गांव अवशेष रह गया था, गौरीशंकर वहां पहुँचा। वहां अधिकांश पटेल रहते थे और ब्राह्मण पंडित रहता था। उसका नाम उमाशंकर था। गौरीशंकर ने उस गांव में जाकर चैलेंज किया उमाशंकर को। उमाशंकर तो गांव का था। उसमें ज्यादा पढ़ाई नहीं थी। वह किसानों के बीच में पंडित था। उसने भी चैलेंज स्वीकार कर लिया। गौरीशंकर ने उन पटेलों के बीच में कहा कि यदि तू मुझ को जीत लेगा तो मैं तुझे बावन तुकमे-मेडिल सोने के दे दूंगा और मैं जीत गया तो एक मेडिल सोने का तुझे मुझको देना पड़ेगा। जब दोनों ने शर्त स्वीकार कर ली तो प्रश्न आया कि पंच किसको बनाया जाए ? निर्णायक कौन होगा ? तब पांच पटेलों को निर्णायक के रूप में बिठा दिया। गौरीशंकर ने सोचा कि यह गांव का पण्डित है और मैं इससे खुलकर बात करूंगा

तो जीत जाऊंगा जबकि उमाशंकर ने सोचा कि मुझ में इतना ज्ञान तो है नहीं, परन्तु थोड़ा अनुभव तो रखता ही हूँ। गौरीशंकर ने कहा कि तुम पूछो—तो उमाशंकर ने कहा कि गट्टम गट्ट भाई गट्टम गट्ट। गौरीशंकर ने जीवन में कभी भी 'गट्टम गट्ट' नहीं सुना और न शास्त्रों में पढ़ा था। शास्त्रों के पन्ने पलटने लगा, परन्तु कहीं भी यह शब्द नहीं मिला। तो सोचने लगा कि बात क्या है? और जब वह उत्तर नहीं दे सका तो पंचों ने फैसला दे दिया कि 'गौरियो हार्‌यो और ऊमियो जीत्यो' अर्थात् गौरीशंकर हार गया और उमाशंकर जीत गया। तो पटेलों ने कहा कि तुम्हारे पास जितनी चीजें हैं वे दे दो। तो बावन तुकमे दे दिये। इधर उसके गांव में स्वागत की तैयारियां हो रही थीं भाई सोच रहा था। कि इतनी चीजें लेकर आएगा मेरा भाई। परन्तु जब गौरीशंकर उदास मन पहुँचा और साथ में कुछ भी नहीं देखा तो पूछा कि भाई! क्या रास्ते में चोर-लुटेरे मिल गए थे? जिन्होंने सब कुछ लूट लिया। तो उसने कहा कि और तो कोई नहीं मिला, परन्तु आखिरी गांव के उमाशंकर पंडित ने मुझ को जीत लिया और सब चीजें उसको देनी पड़ीं। भाई ने कहा अरे! उमा से तू हार गया? स्वाभाविक था हारना, क्योंकि तुझे अनुभव नहीं है। तू घर चल, मैं अभी आता हूँ। गौरीशंकर को घर भेज कर मंशाराम उस गांव में गया और उमाशंकर से कहने लगा—उमा! तू जीत गया। परन्तु चल अब मुझ से शास्त्रार्थ कर। वह थोड़ा अनुभव का पुट रखता था। उसने देखा कि पंच किसान हैं और निर्णायक किसान हैं तो इनके अनुरूप ही बात करनी चाहिए। उसने उमाशंकर से कहा कि पूछ! पहिले! तो उसने कहा 'गट्टम गट्ट भाई गट्टम गट्ट, तो यह सुनते ही मंशाराम ने कहा यह पंचम प्रश्न कैसे रखा? यह तो आखिरी प्रश्न है। अब तू तो हार स्वीकार कर या पहिले के पद बता! उसने हार स्वीकार कर ली और कहने लगा कि प्रथम—पहिले का प्रश्न क्या है? तब मंशाराम ने कहा कि बावन ही तुकमे पहिले के और एक तेरी तरफ से तुकमा देना पड़ेगा। उसने मंजूर कर लिया। इधर पटेलों के मन में भी पहिले के प्रश्न पूछने की आ गई। मन्शाराम ने कहा—'गज्जम गज्ज, बरसम-बरस, बज्जम बज्ज, उग्गम उग्ग, पक्कम पक्क, रसम रस्स और फिर गट्टम गट्ट'। यह सुनकर किसानों ने भी कह दिया कि यह बहुत बड़ा पण्डित है, और कह दिया अरे भाई, उमा तू हार गया। मन्शाराम बावन मेडल उमाशंकर से लेकर गांव चलता बना।

कहने का तात्पर्य यह है कि क्यों न कितना ही अध्ययन कर लिया जाय किन्तु जीवन में संवर की साधना, समीक्षण की आराधना व्यवस्थित नहीं सधती है

तो वह एक न एक दिन अपने पथ से विचलित हो ही जाता है। सही आराधना के लिए आश्रव से निवृत्ति और संवर में प्रवृत्ति करना आवश्यक है।

संवर की साधना और गौतम स्वामी

संवर की प्रक्रिया को नहीं जानने वाला इन्द्रभूति ब्राह्मण विद्वान् भी महाप्रभु को इन्द्रजालिया समझकर उन्हें हटाने के लिए अभिमान में भरकर ५०० शिष्यों के साथ समवसरण में पहुँचा था। किन्तु भगवान को देखते ही उसकी सारी अनर्गल क्रियाएँ धीरे-धीरे स्वतः ही शान्त होने लगीं और तब भगवान के मुख से सुना कि तुम्हारे मन में आत्मा के प्रति सन्देह है, बस इतने मात्र से उसका अभिमान गल गया, वह पहचान गया कि महाप्रभु विशिष्ट ज्ञानी हैं। उनके चरणों में झुक गया। आश्रव से संवर में प्रवृत्ति प्रारम्भ की, संयम अंगीकार किया और अपने जीवन को समीक्षण से अनुरंजित किया। परिणामस्वरूप त्रिपदी 'उप्पेइवा, विगमेइवा, धुवेइवा' के उच्चारण मात्र से उन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान हो गया। यह संवर की आराधना और आगमधर गुरु की सहायता का सुफल है।

मनुष्य पर्याय को सफल बनाने के लिए सुगुरु के सान्निध्य को पाकर क्रिया को संवर-समीक्षण के साथ अनुरंचित कर वर्तन करना आवश्यक है।

तामसिक वृत्ति—हिंसा

(श्रावक का प्रथम व्रत–अहिंसा)

- ☐ तामसिक वृत्तियां त्यागें
- ☐ सर्वथा त्यागी साधु और देशतः श्रावक
- ☐ श्रावक का अहिंसा व्रत
- ☐ अहिंसा व्रत–प्रथम अतिचार–वंध
- ☐ अहिंसा व्रत द्वितीय अतिचार वध

थूलग पाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ ।
से पाणाइवाए दुविहेपण्णत्ते तंजहा—
संकल्पओ य आरम्भओ य
तत्थसमणोवासओ संकल्पओ जावजीवाए
पच्चक्खाइ नो आरम्भओ

सक, स्थूल प्राणातिपात में संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करता
का नहीं ।

मानव की तामसिक वृत्ति है । जब तक इस वृत्ति का सर्वथा
गा, तब तक आत्म-साधना सध नहीं सकती है । साधु के लिए
त्याग होता है । गृहस्थ श्रमणोपासक, हिंसा का देशतः त्याग

प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शांति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे॥
शुद्ध आलंबन आदरे, तजी अवर जंजाल रे।
तामस वृत्ति सहु परिहरी, भजे सात्विक साल रे॥

बन्धुओ ! शांतिनाथ भगवान सोलहवें तीर्थंकर हैं और सभी भव्य व्यक्तियों के मुंह पर चढ़े हुए हैं। अन्य तीर्थंकरों के नाम कईयों को याद होंगे या नही भी होंगे, परन्तु शांतिनाथ भगवान को तो संभव है कोई नहीं भूलता होगा। सब याद कर रहे हैं। इसका कारण देखा जाए तो मनुष्य के मन में जो शांति की भूख है, शांति की जो एक तमन्ना है, उसके अनुरूप यदि एक शब्द भी आता है तो उसको भी वह जल्दी से पकड़ लेता है। परन्तु इस शांति को पाने के लिए शांति के सोपान भी बताए गए। उसके लिए यहां निर्देश दिया गया है।

तामसिक वृत्तियां त्यागें

व्यक्ति उच्चतम शांति चाहता है तो उसके लिए अवलम्बन भी वैसा ही लेना चाहिए जैसी कि वह शांति चाहता है। अवलम्बन यदि ठोस और मजबूत है, तो उससे अवलम्बन लेने वाले को भी अवश्य ही शांति मिलती है। ठंडे पानी से यदि घड़ा भरा हुआ है और जिसको प्यास है, वह कदाचित् उसको ऊपर से उठाता ही है और पानी के हाथ भी नहीं लगाता है, परन्तु ऊपर से घड़ा ठंडा-ठंडा लगता है। वह ठंडक भी उसको कुछ सन्तुष्टि देती है कि कोई बात नहीं। वैसे ही अवलम्बन शुद्ध हो। जिसके किसी कोणे में भी अशांति न हो, ऐसे अवलम्बन को यदि मन से पकडा गया तो शांति अवश्य मिलेगी। परन्तु मन से कब पकड़ा जाएगा ? जब मन में जो बैठी हुई वृत्तियां हैं। उनमें से कई वृत्तियां तामसिक है, कई राजसी हैं और कई सात्विक वृत्तियां हैं। उनमें से तामसी वृत्तियां तो मनुष्य जीवन के लिए बहुत घातक हैं। तामसी भावना ही वस्तुतः व्यक्ति को दुःखी बना रही है। हिंसा, क्रूरता, बर्बरता, लूट-खसोट, विकारों की प्रबलता–ये सब तामसी भाव के परिणाम है और ऐसी तामसी भावना में जो बहता है, जिसके मन में ऐसी भावनायें भरी हुई हैं वह व्यक्ति कभी भी शुद्ध अवलम्बन को नहीं पकड़ सकता है। इसलिए कवि का

संकेत है कि यदि तुम शुद्ध अवलम्बन को ग्रहण करना चाहते हो तो इन सब तामसी वृत्तियों को छोड़ दो। इसीलिए तीर्थंकर देवों ने सन्तों के आचार की बात कहते हुए सबसे पहिले अहिंसा आचार का प्रतिपादन किया। यह हिंसा की वृत्ति जहां मन में चलती है, वचन में हिंसा होती है, और काया में हिंसा की परिणति होती है तो उस व्यक्ति का मन तामसी रहता है। वचन में भी हिंसा के भाव रहते हैं और आचरण भी तामसी वृत्ति का ही होता है।

सर्वथा त्यागी साधु और देशतः श्रावक

जब साधना करने के लिए साधक चलता है तो उसको इन तामसी वृत्तियों का समूल परित्याग कर देना होता है। जो परिपूर्ण शुद्ध अवलम्बन लेकर चलता है, जो अहिंसा का परिपूर्ण पालन करने का प्रण लेता है कि मैं अब इस साधु जीवन की भूमिका में प्रवेश करता हूँ तो छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्राणी की हिंसा स्वयं करूंगा नहीं, उन प्राणियों की हिंसा में दूसरे से कराऊंगा नहीं, यदि कोई हिंसा करता होगा तो मैं भला भी नहीं समझूंगा। इस प्रकार का प्रण साधु जीवन में, यावत् जीवन के लिए होता है। टेम्परेरी-अस्थायी रूप से नहीं होता है। साधु अपराधी को दण्ड नहीं दे सकता। साधु अमुक क्षेत्र में हिंसा करे और अन्य में नहीं करे, अमुक काल में करे और अमुक काल में नहीं करे, यह भी छूट नहीं रहती। वह सभी क्षेत्र, सभी काल में सब तरह कीं हिंसाओं का परित्यागी होता है और जिन भव्यों में साधु बनने की क्षमता नहीं होती, वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए तामसी वृत्तियों का त्याग करना चाहें तो उनके लिए प्रभु ने कहा कि तुम यदि इस हिंसा रूपी तामसी वृत्ति का परिपूर्ण त्याग नहीं कर सकते हो तो कुछ हद तक तो कर ही सकते हो। क्योंकि गृहस्थाश्रम में बाल-बच्चे भी होते हैं। उनके भरण-पोषण का प्रश्न भी सामने रहता है। घरेलू व्यक्ति अपने जीवन का निर्वाह करने के लिए भिक्षावृत्ति तो नहीं कर सकते। उनको तो अपने अर्थ उपार्जन की स्थिति से जीवन निर्वाह करना होता है। उपार्जन के भी कई तरीके हैं। अल्प पाप का और महा-पाप का। परन्तु श्रावक महापाप का तरीका छोड़ता है और अल्प-पाप भी लाचारी-वश काम में लाता है। उन अल्प-पाप के व्यापार में खेती-वाड़ी भी आती है। खेती-वाड़ी में आरम्भजा हिंसा होती है। व्यापार में भी हिंसा होती है। व्यापार करते हुए कोई अनाज तोल रहा है तो वहां भी हिंसा होती है। भोजन बनाता है, उसमें भी हिंसा होती है, कच्चा पानी का प्रयोग होता है, उसमें भी हिंसा होती है। पंखे

की हवा खाना, वनस्पति, साग-सब्जी वगैरह काम में लेता है तो भी हिंसा होती है। ये सब हिंसाजनक कार्य हैं। परन्तु इन हिंसाओं को श्रावक हिंसा के लिए नहीं करता परन्तु उसे लाचारीवश करना पड़ता है। मैं इन प्राणियों की हिंसा करूं, इसलिए हिंसा नहीं करता है। वह सोचता है कि परिवार और मेरा निर्वाह करने के लिए और महापाप से बचने के लिए यह हिंसा करनी पड़ रही है। इतनी उदासीनता के साथ करता है। वह आरंभजा हिंसा का त्याग नहीं कर सकता है–इसलिऐ आरंभजा हिंसा लागू रहती है। सापराधी हिंसा का भी वह त्याग नहीं कर सकता है। वह किसी पर आक्रमण नहीं कर रहा है, किसी को सता नहीं रहा है परन्तु कोई आततायी उसको आकर सताने लग जाए। आततायी का मतलब है, दुष्ट प्रकृति का मनुष्य। वह आकर परिवार को लूटने-खसोटने लगे, मारने लगे तो जिसके परिवार को मारा जा रहा है, लूटा जा रहा है, वह चुपचाप बैठा नहीं रहता। वह पहिले साम, दाम, दण्ड और भेद से उसे समझाने की चेष्टा करता है, परन्तु फिर भी नहीं मानता है और दण्ड देने का प्रसंग आए तो लड़ाई-झगड़ा करके भी अपने परिवार को बचाता है। वह जो लड़ाई-झगड़ा कर रहा है, दण्ड दे रहा है, वह अपराधी हिंसा है। जो अपराधी है उसको दण्ड दे रहा है न कि निरपराधी को दे रहा है। ऐसी हिंसा भी श्रावक के व्रत में खुली रहती है। क्योंकि किस वक्त श्रावक के कौनसी जिम्मेवारी आ जाए जिसका कि उसे निर्वहन करना पड़े।

श्रावक का अहिंसा व्रत

अहिंसा व्रत धारण करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है। एक मजदूर भी कर सकता है और राष्ट्रपति की जिम्मेदारी वहन करने वाला भी कर सकता है। कोई राष्ट्रपति के पद पर है और कोई राष्ट्र पर विपत्ति आ गई–दूसरा शत्रु चढ़ कर आ गया या एक-दूसरे राष्ट्र पर नीति-अनीति का प्रश्न आया तो उसको भी हल करने के लिए उस राष्ट्रपति की पोस्ट पर रहते हुए उसके अपराधी हिंसा खुली रहती है। बारह व्रतधारी श्रावक भी कभी-कभी संघर्ष में उतरते हैं, युद्ध भी करते हैं। शास्त्रों में ऐसे उदाहरण भी आए हैं। चेड़ा और कोणिक का प्रसंग आया है। चेड़ा महाराज बारह व्रतधारी श्रावक थे। परन्तु उनके सामने जब हार और हाथी का प्रश्न आया, उस समय हार और हाथी का जितना महत्व नहीं था, उतना नीति और अनीति का प्रश्न था। अनीति का प्रतिकार और नीति का प्रतिष्ठापन करना

यह मुख्य कर्तव्य श्रावक का रहता है। श्रावक यदि अनीति को प्रश्रय देता है और नीति की उत्थापना करता है तो श्रावक अपने कर्तव्य से च्युत होता है, श्रावक हमेशा नैतिकता की प्रतिष्ठा बढ़ायेगा और कोई नैतिकता के कार्य करना चाहता है तो उसको धन्यवाद देगा—शाबासी देगा कि तुमने नैतिकता का पालन किया। ऐसा करने मे नैतिकता को प्रश्रय मिलता है और दूसरे भी सोचेंगे कि उसने नैतिकता का पालन किया तो बड़े-बड़े श्रावकों की तरफ से धन्यवाद मिला। हम भी इसी प्रकार जीवन बनायें तो आम जनता नैतिकता का पालन करने लगेगी। उससे नैतिक मूल्य बढ़ जाता है और जहां तामसी वृत्तियों का ह्रास होता है, यों वहां भी नैतिकता बढ़ती है। जो अनैतिकता को प्रश्रय देता है और कोई अनैतिकता का कार्य करके आया है फिर भी उसको धन्यवाद देता है तो वह श्रावक तामसी वृत्ति से नहीं छूट सकता, वह अनैतिकता को बढ़ाता है। उसे प्रश्रय देने वाला होता है। सच्चा श्रावक अनैतिकता को प्रश्रय नहीं देता। वह तामसी वृत्ति से ऊपर उठने की चेष्टा करता है। देखिए! चेड़ा महाराज ने युद्ध किया तो नैतिकता को प्रश्रय देने के लिए किया। युद्ध भी किया परन्तु व्रत में भंग नहीं लगाया। राम और रावण के बीच में भी युद्ध हुआ। राम और रावण के बीच भी नैतिकता और अनैतिकता का ही प्रश्न था। राम नैतिकता को प्रश्रय देते थे जबकि रावण अनैतिकता की ओर मुड़ा था। प्रश्न सीता का था।

दुनियाँ देखती है कि एक सीता के लिये इतना घमासान युद्ध क्यों किया गया? जबकि राम की दृष्टि में एक सीता नहीं थी परन्तु ऐसी अनेक अबोध बेटियां थीं। राम सोचते थे कि नीति का, मर्यादा का पालन करने वाले व्यक्ति भी अनैतिकता का सामना नहीं करेंगे तो अनैतिक व्यक्तियों का हौसला बढ़ जाएगा। वे सोचेंगे कि आज राम की पत्नी को बलात् वश में कर लिया, तो कल वही दूसरे राजाओं की जो सुन्दर रूपवती पत्नियां हैं. उनको भी वश में करेंगे। तो दूसरे भी अनैतिकता की तरफ चले जायेंगे। अतः जो युद्ध हुआ वह अनैतिकता का प्रतिकार करने के लिए हुआ। राम और रावण लड़े। परन्तु पूछा जाए कि राम और रावण क्यों लड़े? दोनों के लड़ने में बहुत बड़ा अन्तर था, वैसे ही श्रावक की भूमिका में रहता हुआ श्रावक अनैतिकता का प्रतिकार और नैतिकता की प्रतिष्ठा करता है। इसलिए मजदूर से लेकर राष्ट्रपति के पद पर रहता हुआ बारह व्रत धारण कर सकता है और उसके लिए आरंभजा हिंसा, विरोधी हिंसा और सापेक्ष हिंसा खुली रहती है।

सापेक्ष हिंसा का मतलब है कोई पिता बच्चे को शिक्षा दे रहा हो और वह नहीं मान रहा हो तो उसको कभी चांटा भी मारना पड़ता है। यह हिंसा छोटे रूप में है। परन्तु वह चांटा उसको सुधारने के लिए मार रहा है। यह सापेक्ष हिंसा है। इतनी हिंसा खुली रहने के बाद क्या बाधा आने वाली है? आपको बंदिश कितनी रहती है? निरपराधी, निरपेक्ष चलने-फिरने वाले प्राणियों को इरादा करके नहीं मारना, इतना सा ही तो त्याग लेते हैं। मैं सोचता हूँ ऐसी हिंसा तो आप करते भी नहीं हैं। जिनमें व्यापार का, खेती का प्रयोजन नहीं, आपके ऊपर कोई आक्रमण भी नहीं कर रहा है। आप रास्ते-रास्ते जा रहे हैं और एक निरपराध चींटी जा रही है तो मारने की दृष्टि से क्या मारेंगे उसे? आप देखिये कि आपके जीवन में कुदरती तौर पर पहिले व्रत का पालन तो हो ही रहा है। परन्तु आपके त्याग नहीं है तो आप उस दृष्टि से अव्रत में हैं। त्याग नहीं करेंगे तब तक व्रत में नहीं आयेंगे। भगवान् कितने तरीकों से बतला रहे हैं। पहिला अणुव्रत अंगीकार कर लोगे तो कोई बाधा नहीं होगी। खुले रहोगे तो कर्मबन्धन होगा। पहिला व्रत धारण कर लेते हो तो व्यर्थ की हिंसा तो रुक ही जानी है। पहिले व्रत में कोई रुकावट नहीं है। उसको अंगीकार कर लेते हो तो व्रतधारी की श्रेणी में, श्रावक की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। जो व्रत नहीं लेता है वह कितनी ही अज्ञान दशा में करनी करे, परन्तु यह सार्थक नहीं होती। जैसे कोई छात्र स्कूल में प्रवेश पाकर नहीं पढ़ता है तो उसको सर्टिफिकेट नहीं मिलता है। घर पर चाहे कितनी ही पढ़ाई करले परन्तु सरकार उसे नौकरी में नहीं लेती है। भगवान की आज्ञा में वही है जो व्रतधारण करता है और जो व्रत नहीं लेता है वह आज्ञा में नहीं है। मैं सोचता हूँ कि पहिला अणुव्रत, तामसी वृत्ति को छोड़ने का व्रत है और निरपराध, निरपेक्ष, चलते-फिरते प्राणियों को नहीं मारता है तो वह पहिला अणुव्रत धारण करके श्रावक की श्रेणी में आ जाता है। इतने मात्र से वह तामसी वृत्ति का परित्याग कर सकता है। श्रावक के प्रथम व्रत की स्वरूप-व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है—

थूलग पाणाइवायं समणोवासओ
पच्चक्खाइ सो पाणाइवाए दुविहे—
पण्णत्ते, तंजहा-संकल्पओय, आरंभओय
तत्थ समणोवासओ संकल्पओ जावजीवाए
पच्चक्खाइ, नो आरंभओ
थूलग पाणाइवाय वेरमणसूय

समणोवासएणं पंच अइयार—
जाणियव्वा, न समायरियव्वा तंजहा—
बंधे वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणुवुच्छेएत्ति

महाप्रभु के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक संकल्पी हिंसा का जीवनभर के लिए त्याग करता है। आरम्भी हिंसा की उसके छूट होती है। प्राणातिपात व्रत के पांच अतिचार को, प्रथम श्रावक व्रती को छोड़ देना चाहिये, वे अतिचार हैं—वध, बंध, छविच्छेद, अतिभार आरोपण और भक्तपान विच्छेद।

अहिंसा व्रत का प्रथम अतिचार–बंध

जो श्रावक की श्रेणी में रहेगा उसे पहले व्रत के पांच अतिचारों का भी ख्याल रखना पड़ेगा। मैं सोचता हूं कि वर्तमान में श्रावक इनका सेवन भी नहीं करते होंगे। पहिला व्रत जो श्रावक ग्रहण करता है वह निरपराध, निरपेक्ष, चलते-फिरते जीवों को मन से नहीं मारता है। उसके अतिचार के पांच भेद हैं—बंध, वध, छविच्छेद. अतिभार और भात-पानी का विच्छेद-अन्तराय देना। बंध की दृष्टि से श्रावक गृहस्थ जीवन में रहता हुआ स्वयं का, परिवार का निर्वाह कर रहा है—और यदि उसके यहां गाय-भैंस आदि भी रहते हैं, जैसा कि आनन्दजी श्रावक के यहां चालीस हजार गायें थीं, उन पशुओं के गले में बंधन ऐसा नहीं दिया जाय कि जिससे आगे जाकर प्राणघातक बन जाए—गले में फांसी लग जाए। स्वर्गीय आचार्य प्रवर ने इस बन्ध के विषय में श्रावक को ठीक तरह से समझाने के लिए एक उदाहरण दिया कि श्रावक के पहिले व्रत में अतिचार कब लग सकता है?

एक गांव में एक श्रावक रहता था। वह बड़ा व्यापारी था। व्यापार भी काफी करता था। उस समय चोर, डकैतियों का भी हल्ला बहुत था। अत: उसने सुरक्षा के लिए एक पहरेदार को तनखा पर रख लिया। उस श्रावक ने बारह व्रतों में से पहला व्रत भी स्वीकार कर लिया था कि निरपराध, निरपेक्ष, चलते-फिरते जीव को नहीं मारूंगा। वह व्रत का और व्रत के अतिचारों का पालन करता हुआ चल रहा था। उस पहरेदार को श्रावक ने कह दिया था कि रात्रि के समय सावधानी से पहरा देते रहना, ताकि मेरा माल कोई चुराए नहीं—चोर–डाकुओं से बचाना। मैं तुमको पूरी तनखा देता हूं। अब उसको रखकर श्रावक निश्चिन्त रहता था। परन्तु जिस पहरेदार को रखा, वह भी लापरवाह बन गया। सोचने लगा कि

रोजाना जागता हूँ कोई आता तो है नहीं। इस निश्चिन्तता से एक दिन वह गहरी निद्रा में सो गया। और जिस दिन सोया, उसी दिन संयोग से चोर आ गए। चोरों ने ताले तोड़े और अन्दर घुस गए। जब वे माल लूट रहे थे तो इसी हड़बड़ाहट से श्रावक की नींद खुल गई। सोचा कि क्या बात है? तो उसने हल्ला किया, जिससे चोर भाग गए। पहिले चोर ऐसे ही होते थे। आज की बात और है। आज के चोर तो शस्त्र से सामना करने को तैयार हो जाते हैं। श्रावक ने चोर-चोर हल्ला किया तो आस-पास के लोग जाग गए और आकर जमा हो गए और पूछा कि क्या बात है? माल तो नहीं गया? श्रावक ने कहा—ताले तो टूट गये थे, तब लोगों ने कहा कि इतना कमाते हो तो एक पहरेदार को क्यों नहीं रख छोड़ते? श्रावक को ध्यान आया कि पहरेदार तो है। वह कहां है? तलाश की गई तो प्रगाढ़ निद्रा में चबूतरे पर सो रहा था। वहां सब इकट्ठे हो गये। नींद नहीं खुली तो श्रावक को गुस्सा आ गया और गुस्से के साथ ही साथ लातें ठोक दीं। लात लगते ही वह जागा। श्रावक ने उसे कहा—अच्छी पहरेदारी की? तब पड़ौसियों ने भी ताना कस दिया कि सेठजी, तनखा भी वैसी ही देते होंगे। तनखा अच्छी दी जाए तो अच्छी सेवा करेगा। श्रावक कहने लगा कि यह नमकहराम हो गया। दूसरा नौकर रख लिया। परन्तु सोचा कि इसको तो सजा दूंगा। उसे मयूरपाश से बांधा, जिससे उसके दोनों हाथ-पैर बंध गए और वैसे ही उसे धूप में खड़ा कर दिया। बहुत देर तक खड़ा रखा, जिससे उसके मुंह से खून निकलने लगा और बहुत समय तक कष्ट देकर बाद में छोड़ दिया। उसका बन्धन के कारण प्राणांत हो गया। वह मर गया। अतः श्रावक के लिए चेतावनी दी गई कि ऐसा बन्धन नहीं बांधे कि जिससे प्राणी के प्राणों का नाश हो जाए, ढीले बन्धन बांधे। बंध के लिए निषेध किया गया है, क्योंकि इसमे उसके व्रत में अतिचार लगता है। शायद ही कोई श्रावक ऐसा हो, जो ऐसा बन्ध बांधता होगा। अतिक्रूर बन जाए तो कह नहीं सकता।

अहिंसा व्रत–द्वितीय अतिचार–वध

दूसरे अतिचार की स्थिति बता रहे हैं कि 'वह' वध ऐसा अतिचार उसको जान से तो खत्म नहीं करता है परन्तु ऐसे ढंग से चोट लगा देता है कि आगे-पीछे उसके परिणाम स्वरूप वह मृत्यु को प्राप्त करता है। ऐसे अतिचार का सेवन श्रावक न करे।

आचार्य प्रवर ने इसके लिए भी दृष्टान्त दिया कि कुणाल देश में वरुण नाम का श्रावक था। वह जाति से ब्राह्मण था। वह सन्तों के समीप पहुँचा। सन्तों की वाणी सुनकर उसमें आध्यात्मिक जागृति हुई। दीक्षा लेने को तत्पर हो गया। परन्तु जिन मुनिराज के पास वह दीक्षा की भावना से पहुँचा, उन मुनिराज ने मन में विचार किया कि इसकी प्रकृति दीक्षा के योग्य है या नहीं ? कुछ दिन रखकर देखूं और जब दीक्षा की योग्यता नहीं देखी तो कह दिया कि मैं अभी दीक्षा नहीं दूंगा। दीक्षा के लिए उनकी इन्कारी हो गई। क्योंकि यह भी महत्वपूर्ण कार्य है। समस्त तामसी वृत्तियाँ दूर होने पर ही दीक्षा ली जा सकती है। ऐसे कई प्रसंग आते हैं, जिनकी तामसिक वृत्तियों को देखकर उनकी इच्छा दीक्षा लेने की होते हुए भी उन्हें छोड़ दिया जाता है और मैंने भी ऐसे ही एक-दो व्यक्तियों को रवाना कर दिया था। मैंने कहा कि तुम्हारी प्रकृति लाइन पर आ जाए तभी यहां पहुँचना। हाँ! तो वरुण नाम के व्यक्ति को मुनिराज ने दीक्षा से इन्कार कर दिया कि तुम्हारी दीक्षा नहीं होगी। वरुण ने पूछा कि मैं क्या करूं ? मुनिराज ने कहा—तुम बारह व्रत अंगीकार करो। पहिला व्रत उसने अंगीकार कर लिया। इतने मायने में तो वह तामसी वृत्ति से हटा। अतिचार का स्वरूप भी समझा दिया गया। उस वक्त एक धाताई नाम के व्यापारी ने कुछ ब्राह्मणों को भोज दिया। सब ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया। यह वरुण नाम का ब्राह्मण भी, जो कि अब श्रावक बन गया था, वहां भोज में पहुँचा। परन्तु जब अन्य ब्राह्मणों को यह मालूम हुआ कि यह तो श्रावक बन गया है। अहिंसा अणुव्रत को लेकर चल रहा है। इसने हमारे धर्म की जनेऊ भी छोड़ दी है। तो उन्होंने इसका तिरस्कार कर दिया। हालांकि चाहिए तो यह था कि उसका आदर करते क्योंकि उसने हिंसा छोड़ी है तामसी वृत्ति छोड़ी है और यह हमसे ऊपर उठा है। यह हमारी जाति का तो है। हमारे अन्दर अभी तामसी वृत्ति है—हम ऊपर नहीं उठे हैं। हमें इसका क्यों तिरस्कार करना चाहिए ? लेकिन ऐसा न सोचकर वरुण नाम के उस ब्राह्मण को ऊँचा उठा हुआ देखकर उन्होंने कहा कि अब तू हमारी पंक्ति में नहीं बैठ सकता। उसने भी कह दिया कि तुम जाति से तो ब्राह्मण हो, परन्तु चाण्डाल जैसे कार्य कर रहे हो और

मैं अब तामसी वृत्ति को छोड़कर अहिंसा की करनी कर रहा हूँ। तुम ब्राह्मण होकर मच्छी खाते हो। इसमें क्या धरा है ?

आप सोचेंगे कि क्या कभी ब्राह्मण भी मच्छी वगैरह खाते हैं ? यहां तो नहीं खाते होंगे। परन्तु मैं जब उड़ीसा प्रान्त में गया—छत्तीसगढ़ की तरफ तो रास्ते में एक गांव आया, वहां एक बार सरकार की ओर से तालाब में मच्छियों की लूट हुई। कई लोग जाल लेकर पहुँच गए। हम विहार करते हुए रास्ते में विश्रांति के लिए बैठे हुए थे। एक ब्राह्मण भी आकर हमारे पास बैठ गया और निन्दा करने लगा कि महाराज ! इस गांव के लोग सब पापी हैं, मच्छियां खाते हैं, बकरा खाते हैं, दारू पीते हैं। महाराज ! मैं तो ब्राह्मण हूं। मैं मच्छी नहीं खाता–मांस नहीं खाता, बकरा नहीं खाता। मैं तो सिर्फ एक कबूतर का मांस खाता हूँ। उसने यह सफाई रखी। ऐसी सफाई सुनकर मैंने यह सोचा—यह जाति से जरूर ब्राह्मण है, पर इसमें ब्राह्मणत्व कहां है ? इन जैसी कुवृत्तियों को देखकर ही वस्तुस्थिति स्पष्ट करने के लिए महाप्रभु ने कहा—

कम्मुणा बम्मणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

उत्तराध्ययन सूत्र १८–३३

अतः स्पष्ट है कि महाप्रभु जो जाति से उच्च हैं, उन्हें उच्च नहीं मानते। परन्तु जो कर्म से उच्च हैं, उन्हीं को उच्च मानते हैं। महाप्रभु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की परिभाषा, कर्म के आधार पर ही की है। जो व्यक्ति अण्डे, मांस आदि खाते हैं, वे तामसी वृत्ति के हैं। ऐसे व्यक्ति श्रावक नहीं बन सकते हैं। क्योंकि श्रावक के लिए पहली शर्त होती है महापाप का त्याग करे और अल्प पाप की मर्यादा रखे। हां ! तो उस वरुण श्रावक ने कहा कि मैं तुमसे लाख दर्जे अच्छा हूं कि मैं अण्डे, मांस, मच्छी नहीं खाता हूँ। मैं तो खेती कर सकता हूं, कोई भी व्यापार कर सकता हूँ। मेरे एक आरंभजा हिंसा खुली है। परन्तु निरपराध, निरपेक्ष, चलते-फिरते जीवों को तो नहीं मारता हूँ। यह सुनकर और बाकी सब ब्राह्मण तो

चुप रहे परन्तु एक ब्राह्मण को उत्तेजना आ गई और बोलने लग गया। बोलने-बोलने में इसको भी जोश आ गया। वरुण के हाथ में एक लकड़ी का फाचरा आ गया। उसने उससे उस ब्राह्मण के जोर से ठोक दी। वह ऐसे स्थान पर लग गई कि उसका प्राणांत हो गया। शास्त्रकार कहते हैं कि श्रावक ऐसे अतिचार का सेवन नहीं करे। कभी ठोकने का प्रसंग भी आ जाए तो ऐसे स्थान पर नहीं ठोके कि उसके प्राणों का वध हो जाए। यह पहिले व्रत का दूसरा वध अतिचार है। शायद ऐसा पाप तो श्रावक नहीं करते होंगे।

आगे के जो अतिचार हैं वे तो समय और प्रसंग के अनुसार आ सकते हैं। परन्तु यदि शुद्ध अवलंबन स्वीकार करना है तो तामसी हिंसा वृत्ति का त्याग करके श्रावक व्रत में चलेंगे, तो आप अपने जीवन में चार चांद लगा लेंगे। अपने जीवन को लाभान्वित करने के साथ दूसरे के जीवन को भी शांति दे सकेंगे।